कर्मयोग



कर्म योग

(कर्म योग के वास्तविक अभिप्राय का सरल व सुबोध भाषा में स्पष्टीकरण करने वाली व जीवन को एक नया मोड़ देने वाली खोजपूर्ण पुस्तक)



लेखक :

डॉ० भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'

बरेली (स्नातकोत्तर) कॉलेज, बरेली

रचयिता—रामायण कथा, धातु रूप कौमुदी, शब्द रूप कौमुदी आदि ।

सम्पादक—पंचतंत्रम् मित्रसम्प्राप्ति व तर्क संग्रह



संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,

बरेली—२४३००१ (उ.प्र.)

प्रकाशक :
डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००१ (उ. प्र.)

•

लेखक :
डॉ० भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'

•

•

प्रथम संस्करण
१९७६

•

मुद्रक :
विनोदकुमार मिश्र
राजेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस,
आर्यसमाज रोड, मथुरा.

•

मूल्य :
चार रुपये पचास पैसे मात्र ।

भूमिका

संसार कर्मभूमि है जहाँ प्रकृति एक क्षण के लिए भी विश्राम किये बिना निरन्तर कर्म कर रही है। कर्म जीवन का लक्षण है। जब तक कर्म की क्षमता रहती है तभी तक प्राणी के जीवन का भी विकास होता है। शैशव में कर्म की क्षमताएँ सोयी पड़ी रहती हैं जिनका धीरे-धीरे विकास किया जाता है। जवानी कर्म के सहारे स्वप्नों को साकार बनाती हैं, उसमें कर्म का सामर्थ्य भरपूर होता है। कर्मण्यता शक्ति के छिपे स्रोतों को सक्रिय बनाकर व्यक्तित्व को तेजस्विता से अलकृत करती है। कर्म भीतरी शक्तियों के जगाने का माध्यम है जिसका लक्ष्य है व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास। जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील रहकर कर्म का सम्पादन करता है उसके जीवन में स्फूर्ति, शुचिता और दक्षता का समावेश रहता है, इसके विपरीत कर्म से जी चुराने वाले व्यक्ति को आलस्य, दरिद्रता असफलता रूपी दुर्भाग्य घेरे रहता है तथा धीरे-धीरे उसकी सारी क्षमताएँ कुण्ठित हो जाती हैं। शिथिलता के आने का अर्थ है वृद्धावस्था का आक्रमण। जो बात व्यक्ति के सम्बन्ध में सच है, वही जाति के सम्बन्ध में भी लागू होती है। कर्मठ जातियाँ स्वाभिमान, सम्पन्नता, स्वाधीनता और सम्मान के साथ जीवन बिताती हैं जब कि निकम्मी-निठल्ली जातियाँ पूर्वार्जित प्रतिष्ठा और सम्पत्ति की रक्षा करने में भी असमर्थ रहती हैं। भाग्य कर्मण्य राष्ट्रों का साथ देता है, अकर्मण्य राष्ट्रों को लाञ्छना और तिरस्कार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि जिस संसार में हम रहते हैं वहां कर्म जीवन की एक शर्त है और स्वयं भगवती प्रकृति इस कर्म चक्र का संचालन कर रही हैं। कर्म एक अनिवार्यता है तथा इसी में विश्व के सर्वोच्च विकास का बीज छिपा हुआ है। जो धर्म साधनाएँ कर्म की भूरि भूरि निन्दा करती हैं और कर्म त्याग को ही जीवन की सर्वोच्च स्थिति मानती हैं वे अव्यवहारिक, एकांगी और अपूर्ण हैं क्यों कि उनके माध्यम से लोक जीवन की समग्र चेतना का उद्बोधन, उन्नयन या रूपान्तर सम्भव नहीं।

जीवन के सर्वोच्च विकास के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं कि आदमी कुछ करता भर रहे और तब आकस्मिक रूप से किसी दिन ईश्वरीय ज्योति में नहा उठे क्योंकि कुछ न कुछ तो हर कोई करता

रहता है किन्तु इससे उसके भीतर विकास का कोई चिह्न तक प्रकट नहीं होता। कर्म का ऐसे माध्यम के रूप में उपयोग करना जिससे मनुष्य अपने जीवन काल में ही सर्वोच्च विकास को पा सके, कर्मयोग कहलाता । इसकी महत्ता यह है कि यह हर व्यक्ति के लिये सुलभ है अर्थात् जो जहाँ है, वहीं इसका अभ्यास आरम्भ कर सकता है। इसके लिये न सामाजिक जीवन से उपराम होने की विवशता है और न परिवार के सदस्यों को शत्रु मानकर उनसे छुटकारा पाना होता है। कर्म योग की साधना में मानव जन्म और नर देह को पाप-पुञ्ज मानकर दुश्मन की तरह दण्ड नहीं देना पड़ता। कर्म योग वासनाओं के विनाश पर विश्वास नहीं करता अपितु सबल विवेक का कारगर अंकुश लगा कर उनके उचित और सन्तुलित उपयोग की दिशा सुझाता है। कर्मयोगी सात्विक क्रोध का प्रशंसक है, तमोगुणी क्षमा और सहनशीलता का नहीं क्योंकि उससे लोक पीड़िकों को प्रोत्साहन मिलता है। वह वैराग्यपूर्ण उपभोग का समर्थक है, भोग के लिये हाहाकार करते त्याग का नहीं। हृदय को वासना शून्य नहीं बनाता अपितु वासनाओं की दिशा बदल देता है अर्थात् निजी कल्याण के पिंजड़े से मुक्त कर समष्टि विकास की ओर अग्रसर करता है।

कर्म योग ज्ञान और भक्ति के प्रति अरुचि नहीं जगाता। हाँ उनके उन चरम सीमान्तों का निषेध अवश्य करता है जो सामाजिक जीवन से दूर हट जाते हैं। वह कोरे ज्ञान और निरी उच्छ्वास पूर्ण भक्ति को व्यवहार में ढलने को बाध्य करता है। कर्म योग किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं का विधान करने वाला साधना-मार्ग नहीं क्योंकि समस्त कर्म उसके क्षेत्र में आते हैं। कर्म योग की मान्यता है कि कोई भी कर्म बड़ा या छोटा नहीं होता तथा परमार्थी बनने के लिये व्यवहार का परित्याग अनुचित है क्योंकि कर्म योग की राह पर चल पड़ने पर कर्म मात्र पारमार्थिक रह जाता है। यों कर्म योग व्यवहार-विद्या है अर्थात् किसी भी देश, काल और व्यक्ति द्वारा यह व्यवहार से साध्य है फिर भी आत्म विकास रूपी लक्ष्य को उससे आघात नहीं पहुंचता। यह किताबी शास्त्र नहीं। यह तो कर देखने और परखने की प्रायोगिक विद्या है जिसमें विवेक, साहस और निजी अनुभव को महत्त्व दिया जाता है।

कर्म योग जीवन की वह कला है जिसके संस्पर्श से नाई का बाल काटना, दर्जी का सिलाई करना और चमार का जूता गाँठना भी पर-

मार्थ बन जाता है। कर्म योग स्वार्थ और परमार्थ के नाम पर कर्मों के बाह्य रूपों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचता और इस प्रकार लोक और परमार्थ के बीच किसी भी खाई खोदने को वह अनुचित और मूर्खतापूर्ण मानता है। कर्मयोगी अपने चारों ओर के वातावरण से घृणा करने, नाक भौं सिकोड़ने एवं संसार को नीचता पूर्ण और मिथ्या घोषित करने का विरोधी है। वह विधाता की सृष्टि को रुचि पूर्वक सजाने-सँवारने और उसे कुरूप करने वालों पर कठोर नियन्त्रण करने में विश्वास रखता है। आज तक विश्व में जितनी भी उन्नति हुई है वह सब कर्म योगियों की बदौलत। ज्ञान निष्ठा और भक्ति निष्ठा का अहंकार रखने वाले तो सब जगह पाप-ताप का दर्शन करते हैं और यदि उनका वश चले तो वह परमेश्वर के इस नाटक को ही चौपट कर डाले क्योंकि वे इसे अज्ञान जन्य तथा सारे अनर्थों का मूल मानते हैं।

कोरे ज्ञानी और निरे भक्तों से संसार का शायद ही कोई उपकार हुआ हो। वे 'अहम्' की धारा में इतने जकड़ जाते हैं कि मोक्ष के नाम पर अध्यात्म में भी मतलब परस्ती चलाते हैं और जगत् पर ऐसे दृष्टि डालते हैं मानो उनके अतिरिक्त सभी अज्ञानी, बलि के बकरे, तुच्छ और बेचारे हों और जैसे उसके प्रति उनका कोई कर्तव्य नहीं। अध्यात्म के नाम पर भोजन, वस्त्र, पहनना-ओढ़ना, ईर्ष्या-द्वेष, भला बुरा, मद-मत्सर सब चलने की अनुमति होती है किन्तु लोकहितकारी कर्मों से ही हाथ सिकोड लिया जाता है।

एकांगी भक्तों का हाल यह है कि उपास्य देव के श्री-विग्रह के अतिरिक्त शेष जगत उन्हें भगवान से रहित भासता है और उसके नाम पर किये गये घण्टे-डेढ़ घण्टे के औपासनिक कर्म के अलावा उन्हें सभी चीजें धर्म की परिधि से बाहर प्रतीत होती हैं। खोखले ज्ञान की तरह ऐसी भक्ति भी केवल दम्भ का पोषण कर आदमी को चूस डालती है। पवित्रता की सनक हर किसी में दोष दर्शन कराती है। दुनियां में दुष्कर्मों से उतनी हानि नहीं हुई है जितनी उस निगाह से जो हर जगह दुराचार और दोष ही ढूँढ़ पाती है। भक्ति तब तक आदरणीय है जब तक वह साधक में प्रभु के समक्ष दीनतापूर्ण समर्पण उत्पन्न करती है, किन्तु जहाँ वह समाज में आततायी के अन्याय का प्रतिरोध न करने की मनोवृत्ति जगाकर, 'सब कुछ हरि इच्छा' मानकर स्वयं सहने और दूसरों को सह लेने की प्रेरणा देती है एवं कायरतापूर्ण दीनता का पर्याय बन

जाती है, वहाँ वह कुत्सित और अपमान जनक हो उठती है। कर्म योगी सच्चे भक्ति की भाँति प्राणों की परवाह किये वगैर अन्याय के दुर्ग को धराशायी करता है न कि भाग्यवाद का नाम लेकर उचित असन्तोष को सुलाने के लिए मर्फिया का इन्जेक्शन देता है और ईश्वर भक्ति का दम्भ करते हुए भी बुराइयों को टुकुर-टुकुर निहारता रहता है।

वेदों का कर्म योग का सन्देश कालान्तर में उपनिषदों के जगन्मिथ्यावाद में खो गया जिसका अभिनव और जीवन्त रूप गीता ने प्रस्तुत किया। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कर्म को एक नवीन गरिमा से मण्डित कर जीवन विकास का व्यावहारिक दर्शन उपस्थित किया। भारत ने इस अमृत सन्देश की उपेक्षा की और प्रज्ञावाद के प्रपञ्च में उलझकर अपना सर्वनाश कर लिया। एक हजार वर्षों की पराधीनता और दैन्यग्रस्त जीवन कर्म योग की अवहेलना का दण्ड है। भारत के जीवन में चारों ओर व्याप्त शिथिलता, जड़ता और दिग्भ्रम को दूर कर भव्यतर जीवन अभिव्यक्त करने के लिए कर्म योग ही एकमात्र औषध है। भावी भारत और संसार कर्म योगियों का है।

प्रस्तुत पुस्तक में कर्मयोग के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण किया गया है तथा भारतीय साहित्य में कर्म योग के स्वरूप का चित्रण करते हुए कर्म योग की साधना के साधक और बाधक तत्वों का विशद निरूपण हुआ है। ग्रन्थकार ने स्वामी विवेकानन्द, योगिराज अरविन्द, लोकमान्य तिलक और आचार्य विनोबा के मतों का आधार ग्रहण किया है तथा उन्हीं के विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत भर कर दिया है। गुरुचरणों की अहैतुकी कृपा से ही यह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो सका। इस अवसर पर प्रेष्ठ बन्धु डा० श्यामबहादुर वर्मा के सहयोग को भुलाना कृतघ्नता होगी।

हिन्दी विभाग,
बरेली कालेज, बरेली } —(डॉ०) **भगवानशरण भारद्वाज 'प्रदीप'**
पौ० कृ० ११, २०३२ वि०

अनुक्रम



कर्म योग



भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में योग

योग की महत्ता

योग भारतीय धर्म-साधना का मेरुदण्ड है। हमारी जीवन-व्यवस्था और तत्त्व-चिन्तन योग पर प्रतिष्ठित है। डायसन के शब्दों में 'यह भारत के धर्म-जीवन की सबसे विलक्षण वस्तु है।' योग को भारतीय जीवन में यह प्रधानता आदि काल से ही प्राप्त रही है। दार्शनिक दृष्टियों में परस्पर भेद होते हुए भी भारत के सभी धर्म-सम्प्रदाय योग पर समान रूप से आस्था रखते हैं। आस्तिक सम्प्रदायों नी भाँति जैन और बौद्ध-सदृश नास्तिक सम्प्रदायों में भी योग का बहुत आदर है। आचार्य बटुकनाथ शर्मा के अनुसार योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवाद को कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधना से अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध पदवी को पा गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञान के कोश को पाने के लिए योग की कुंजी पाना परम आवश्यक है। स्वामी गंगेश्वरानन्द जी का विचार है कि योग भारतवर्ष की दिव्य निधि है। दर्शन शास्त्र महर्षियों की योगविद्या का ही चमत्कार है। स्मृति, पुराण, अन्यान्य चिकित्सा-ज्योतिषादि शास्त्र, किं वहुना, समस्त विद्याएं योगाभ्यास जन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के ही मधुर एवं मनोहर फल हैं। अतएव आर्य-जाति

के समस्त साहित्य में ही योग का मुक्त कण्ठ से गुणगान हुआ है। ज्ञाननिष्ठ, वैराग्य सम्पन्न, धर्मवित् और संयमी होने पर भी योग के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं –

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥
(योगबीज ३१)

योग की परिभाषा

अमरकोष में कहा गया है—'योगः सन्नहनोपायध्यान सङ्गति युक्तिषु।' (३। ।२२) युद्ध के लिए योद्धाओं का तत्पर होना, नुस्खा, उपाय; दो वस्तुओं का मिलन और युक्ति आदि अर्थों में योग शब्द का व्यवहार होता है। कहीं कर्म-कौशल, कहीं समत्व, कहीं चित्त की वृत्तियों का निरोध, कहीं जोड़ और कहीं जीवात्मा-परमात्मा का सम्पूर्ण रूप से मिलन योग का अभिप्राय होता है।

योग शब्द युज् धातु से बना है। दिवादिगणी युज् धातु का अर्थ है समाधि, रुधादिगणी युज् का अभिप्राय है संयोग, चुरादिगणी युज् का अर्थ है संयमन। भट्टोजि दीक्षित के अनुसार 'समाधि' शब्द का अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरोध। श्रीधराचार्य ने भी 'योगः समाधिः' कहा है। श्री पंचानन तर्करत्न के मतानुसार तीनों गणों की युज् धातुओं से योग शब्द निष्पन्न हो जाता है न कि केवल दिवादिगणी से। 'युजिर योगे' से 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय से व्युत्पन्न योग का अर्थ है मेल और करणे घञ् पर उसका अर्थ होगा-मिलाने वाला।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग है चित्त की वृत्तियों का निरोध– योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। (योग दर्शन १। २)। किसी आचार्य के अनुसार चिन्ताशून्य मन की लय अवस्था का नाम योग है—

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

भगवान् कृष्ण ने अनासक्तिपूर्वक सम्यक् कर्मानुष्ठान (२। ४८)

और समत्व को योग कहा है (२ । ५०) । आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग की संज्ञा प्रदान की है--

संयोगो योग इत्युक्यो जीवात्मपरमात्मनोः ।

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के शब्दों में 'योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग कराने की प्रक्रिया बतलाती है । योग वह परमार्थ विद्या है जो जीव को इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्च के जंजाल से मुक्त कर अखण्ड आनन्द, परम शान्ति, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त परमात्मा के साथ उसका संयोग करा देती है ।' 'दि मिस्टीरियस कुण्डलिनी' के लेखक डॉक्टर रेले ने योग की परिभाषा इस प्रकार दी है--'योग उस विद्या को कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य बना दे कि वह उच्च स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ संसार में हमारे चारों ओर जो असीम सज्ञान व्यापार हो रहे हैं, उनको किसी भी सहायता के बिना जाने, ग्रहण करे और पचाए ।' (पृष्ठ १०-११)

योगिराज अरविन्द के अनुसार, 'योग का अर्थ केवल ईश्वर की प्राप्ति नहीं बल्कि आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवन का ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग और परिवर्तन है कि उसके द्वारा भगवच्चैतन्य व्यक्त हो और वह स्वयं भगवत्कर्म का एक अङ्ग हो । इस योग मार्ग का लक्ष्य केवल सामान्य सांसारिक देहात्मभाव से ऊपर उठकर परमात्मभाव को प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्मभाव के विज्ञान को इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवन के तमस् में ले आना, इनको रूपान्तरित कर देना, इनमें भगवान् को प्रकट करना और जड़ पार्थिव प्रकृति में दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है ।'

जगद्गुरु स्वामी भारतीकृष्णतीर्थ जी ने लिखा है--'नारायण के साथ नर के एक हो जाने के लिए सनातन धर्म ने जो साधन या साधन सामग्री बतलायी है, उसी का नाम है संस्कृत में योग । यशो-

विजय जी के मत में जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है उन सब साधनों को योग कहते हैं—

मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते।

(द्वात्रिंशिका १०।१)

योगवासिष्ठकार के मत में योग शब्द का अर्थ है—संसार-सागर से पार होने की युक्ति। (६।१।१३।३)

वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म के मिलन का नाम योग है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन शिव और आत्मा के अभेद ज्ञान को योग मानता है। मेदवादियों की धारणा है कि पुराण पुरुष का ज्ञान योग है, आगम वादियों का मन्तव्य है कि शिव और शक्ति का अभेद ज्ञान ही योग है। महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी लिखते हैं—'प्राचीन भारतीय साहित्य में योग शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होने पर भी, मूलतः कुछ अंश में सामंजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।

वेदों में योग

योग का विषय वैदिक संहिताओं में भी उपलब्ध होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही कहा है--'योग का विषय उपनिषदों में भरपूर है, यह तो बहुत से विज्ञ पुरुषों को अवगत है, तथापि संहिताओं में, विशेषतः ऋग्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में भी योग के अल्प या अधिक, गौणतः तथा मुख्यतः अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं, इसे बहुत-से जानकार लोग भी नहीं जानते।'

वेद का उद्घोष है कि योग से ही यज्ञ सफल होता है--

यस्माहृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ (ऋक् संहिता १।१८।७)

[योग के बिना विद्वान् का भी कोई यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग है चित्तवृत्तियों का निरोध और उसकी व्याप्ति प्रत्येक करणीय कर्म में है ।]

योग-सिद्धि के लिए प्रभु-कृपा नितान्त अभीष्ट है, उसी से धन, प्रज्ञा और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं--

स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरन्ध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥ (ऋ० १।५।३)

[वही परमात्मा योग के निमित्त हम पर कृपालु हो, वही (विवेक रूपी) धन तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा हममें उत्पन्न करे तथा वही विश्वम्भर विभूतियों और सिद्धियों के साथ हमारे हृदय-मन्दिर की ओर पधारें ।]

उपनिषदों में योग

आरण्यकों एवं उपनिषदों में प्राण-विद्या के रूप में योग के तात्विक आधार का बहुत स्पष्ट वर्णन हुआ है । प्राण अमृत रूप है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान-
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥
(ऋ० १०।१७७।३)

[मैंने प्राण को देखा है । यह सभी इन्द्रियों का रक्षक है । यह अविनाशी है । यह भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा आता-जाता है । यह प्राण शरीर में वायु के रूप में तथा अधिदैव रूप में सूर्य है ।]

ऐतरेय आरण्यक का कथन है कि प्राण इस जगत् का धारक है । प्राण की ही शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर अवस्थित है उसी प्रकार सबसे बड़े प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त जीवों को यह प्राण ही धारण करता है—

सोऽयमाकाशः, प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद् यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्य प्राणेन विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् ।। ऐत० २।१।६)

ऋषि समस्त ऋचाओं, वेदों और घोषों को प्राण के रूप में समझता और उसकी उपासना करता है। (वही ?।२।१०)

सभी उपनिषदों में योग को प्रधानता दी गई है आचार्य बटुकनाथ शर्मा ने योग के क्षेत्र में उपनिषदों के विशिष्ट महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा है --

'उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्र के परम आधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान बिना योग के साध्य नहीं। अत: उपनिषदों से योग का एक प्रकार से अविनाभूत सम्बन्ध है।······औपनिषदिक योग ही आगे-पीछे की कुञ्जी है योग का इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योग की नींव पर खड़ा है।'

श्री ए० महादेव शास्त्री के सम्पादन में निम्नलिखित उपनिषदें योगोपनिषद् के नाम से अड्यार पुस्तकालय, मद्रास से प्रकाशित हुई हैं—

१.	अद्वतारकोपनिषत्	[शुक्ल यजुर्वेद]
२.	अमृतनादोपनिषत्	[कृष्ण यजुर्वेद]
३.	अमृतबिन्दूपनिषत्	,,
४.	क्षुरिकोपनिषत्	,,
५.	तेजोबिन्दूपनिषत्	,,
६.	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्	[शु० य०]
७.	दर्शनोपनिषत्	[सा० वे०]
८.	ध्यानबिन्दूपनिषत्	[कृ० य०]
९.	नारदबिन्दूपनिषत्	[ऋ० वे०]
१०.	पाशुपतब्राह्मणोपनिषत्	[अ० वे०]
११.	ब्रह्मविद्योपनिषत्	[कृ० य०]
१२.	मण्डलब्राह्मणोपनिषत्	[शु० य०]

१३–महावाक्योपनिषत् (अ० वे०)
१४–योगकुण्डल्युपनिषत् (कृ० य०)
१५–योगचूडामण्युपनिषत् (सा० वे०)
१६–योगतत्त्वोपनिषत् (कृ० य०)
१७—योगशिखोपनिषत् (कृष्ण यजुर्वेद)
१८—वाराहोपनिषत् ,,
१६—शाण्डिल्योपनिषत् (अ० वे०)
२०—हंसोपनिषत् (शु० य०)

योगराजोपनिषत् भी योग सम्बन्धी उपनिषत् है। श्वेताश्वतर उपनिषत् कहती है कि जिसको योगाग्निमय शरीर प्राप्त होता है, उसे न कोई रोग होता है और न बुढ़ापा ही उस पर आक्रमण करने में सफल हो पाता है, यहाँ तक कि वह मृत्यु पर भी जय पा लेता है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्। (२।१२)

कठोपनिषत्कार का मत है कि इन्द्रिय-संयम ही योग है। इसके साधन से मुमुक्षु अप्रमादी होता है और उसका योग इष्ट प्रदान करने वाला और अनिष्ट का निवारण करने वाला होता है—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्त स्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ (२।६।११)

श्रीमद्भागवत का अभिमत है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्याखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ (३।२५।१६)

'योगियों के लिए ब्रह्म को पाने में अखिलात्मा भगवान् के प्रति भक्ति के समान कल्याण कारक मार्ग अन्य कोई नहीं है।'

व्यास जी के अनुसार योग का चरम लक्षण काया-कल्प नहीं बल्कि भगवद्भक्ति है—

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ।।
नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ।।
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ।।

(११।२८।४१।४२।४३)

'कोई-कोई साधक काया कल्प अथवा चिरायुष्य के लिए योग के अनेक उपायों का अनुष्ठान किया करते हैं, परन्तु विवेकवान् लोग इसका आदर नहीं करते । यह सारी चेष्टा व्यर्थ ही होने वाली है क्योंकि वनस्पति के फल की भाँति शरीर तो नाशवान् है । यदि योगाभ्यास से काया-कल्प भी हो जाय तो भी बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर भक्ति छोड़कर उसमें श्रद्धा न रखे ।'

योगदर्शन में योग

महर्षि पतञ्जलि का 'योगदर्शन' योग का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिस पर अब तक अनेक भाष्य लिखे गये हैं —

१.	व्यास भाष्य	श्री वेदव्यास
२.	योगवार्तिक	विज्ञान भिक्षु
३.	व्यासभाष्य व्याख्या	वाचस्पति मिश्र
४.	राजमार्तण्ड	भोजदेव
५	योगसूत्रवृत्ति	नागेश भट्ट
६.	सूत्रवृत्ति	भावागणेश
७.	योगचन्द्रिका	पं० आनन्द
८.	योगसूत्रवृत्ति	उदयङ्कर
९.	नवयोगकल्लोलिवृत्ति	क्षेमानन्द दीक्षित
१०.	योगसूत्रवृत्ति	ज्ञानानन्द

११.	गूढार्थदीपिका	नारायण
१२.	अभिनवभाष्य	भवदेव
१३.	योगसूत्रटिप्पण	,,
१४.	योगसूत्रवृत्ति	महादेव
१५.	गणिप्रभा	रामानन्द
१६.	योगसूत्रभाष्य	रामानुज
१७.	योगसूत्रवृत्ति	वृन्दावन शुक्ल
१८.	,,	शिवशङ्कर
१९.	,,	सदाशिव
२०.	पातञ्जलरहस्य	राघवानन्द
२१.	पातञ्जलरहस्यप्रकाश	राधानन्द
२२.	योगसूत्रवृत्ति	उमापति मिश्र
२३.	योगसूत्रवैदिकवृत्ति	स्वामी हरिप्रसाद

पातञ्जल योग दर्शन चार पादों में विभक्त है। समाधि पाद में मनोनिग्रह और चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय निर्दिष्ट हैं। साधनपाद में अष्टाङ्गयोग का निरूपण किया गया है, विभूतिपाद में वाक्सिद्धि आदि सिद्धियों और अणिमादि विभूतियों का वर्णन है तथा कैवल्यपाद में मोक्ष का विवेचन हुआ है। प्रथम पाद में ५१, द्वितीय में ५५, तृतीय में ५५ और चतुर्थ पाद में ३४ सूत्र हैं। 'समाधि सिद्धिरीश्वर प्राणिधानात्' (२।४५) में भक्ति को समुचित गौरव दिया गया है। महर्षि ने यम-नियमादि के अनुष्ठान का फल अशुचि क्षय माना है जिससे ज्ञानदीप्ति और विवेकख्याति होती है। विवेकख्याति से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है--ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः (४।३०)। क्लेश और कर्मों के नाश से ज्ञान की अनन्तता प्रादुर्भूत होती है—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् (४।३१)। महर्षि ने कैवल्य को स्वरूपप्रतिष्ठा कहकर भी पुकारा है और उसकी परिभाषा करते हुए कहा है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वाचिति-शक्तिरिति । (४।३४)

अर्थात् कार्य-कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य गुणों का विनाश ही मोक्ष या स्वरूप-प्रतिष्ठा या चिति शक्ति है ।

योगदर्शन के अनुसार स्थूल समाधि सिद्ध योगियों को प्रथमकल्पिक कहा जाता है, दूसरी अवस्था मधुमती कहलाती है जिसमें अलौकिक प्रलोभन साधक को पथ भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हैं, तीसरी भूमिका में मधु प्रतीक सिद्धियाँ मिलती हैं, चतुर्थ भूमिका में विशोका सिद्धि मिलती है । व्यासभाष्य में अन्तिम अवस्था को 'अति क्रान्तभावनीय' कहा गया है । महर्षि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं मानते, ईश्वर को पञ्च क्लेश, कर्म, सुख-दुःख और वासना से अस्पृष्ट मानते हैं । श्री मौक्तिक नाथ नीरञ्जन प्रभृति विद्वान् पातञ्जल योगदर्शन को सबसे प्राचीन मानते हैं ।

भगवद्गीता में योग

भगवद्गीता में प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे 'योगशास्त्र' कहा गया है । वर्तमान योग अपनी प्रक्रिया में महर्षि पतञ्जलि का ऋणी है जबकि सिद्धान्त रूप में भगवद्गीता का । श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार गीता में योग शब्द का प्रयोग सात अर्थों में हुआ है—भगवत् प्राप्ति (६।२३), ध्यानयोग (६।१९), निष्काम कर्मयोग (२।४८) भगवत् शक्ति (९।५), भक्तियोग (१४।२६) तथा अष्टाङ्गयोग (८।१२) जगद्गुरू शङ्कराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ जी के अनुसार सत्रह अर्थों में गीताकर ने योग शब्द का कम से कम प्रयोग किया है—समत्वयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, दैवयज्ञयोग, आत्म संयमयोग, योगयज्ञ, ब्रह्मयोग, संन्यास योग, दुःख संयोग वियोग योग, अभ्यासयोग, ऐश्वरयोग, नित्याभियोग, सततयोग, बुद्धियोग, आत्मयोग, भक्तियोग और ध्यानयोग । गीता के अठारहों अध्यायों में सब मिलाकर

योग, युक्त, युञ्जन् आदि शब्द १५० बार आये हैं और यदि हर अध्याय की पुष्पिका भी सम्मिलित कर लें तो स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अनुसार लगभग दो सौ बार इस पद का प्रयोग हुआ है जबकि योग दर्शन में कुल नौ या दस बार हुआ है। योगदर्शन की योग सम्बन्धी व्याख्यायें (१।२ और २।१) संकुचित, एकदेशी एवम् योग दर्शन वालों के ही काम की हैं किन्तु गीता का योग जनसाधारण की वस्तु है क्योंकि वह व्यावहारिक है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने इस दृष्टि से गीता का मूल्याङ्कन करते हुए उचित ही लिखा है गीता ने मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की पारमार्थिक या पारलौकिक जीवन के साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है, यही उसकी विशेषता एवम् उपादेयता का कारण है। चाहे घर में हो या जंगल में, हल जोतता हो या समाधिस्थ हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासन में लगा हो, हर हालत में वह समान रूप से कल्याण का अधिकारी हो सकता है, इसे गीता ने दार्शनिक रूप से बताया है। यह बात इस रूप में कहीं नहीं मिलती। यह गीता की देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीता का योग है ?

बौद्ध धर्म में योग

वैदिक धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी योग का प्रवेश बहुत पहले हो चुका था, स्वयं भगवान् अमिताभ बुद्ध ने योग साधन के फलस्वरूप बोधि प्राप्त की। ईसा की तीसरी शताब्दी में बौद्धों में योग की लोकप्रियता चरम सीमा पर पहुंच गई। 'गुह्यसमाज' नामक तन्त्र के अनुसार उपाय चार प्रकार के होते हैं--सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन। सामान्य सेवा वज्रचतुष्टय कहलाती है और उत्तम सेवा को 'ज्ञानसुधा' की संज्ञा दी गई है। वज्रचतुष्टय का क्रम इस प्रकार है--शून्यता का बीजमन्त्र के रूप में परिणाम, बीजमन्त्र का देवताकार हो जाना, विग्रह रूप में देव-प्रकट्य। ज्ञान-सुधा के छह अङ्ग हैं—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। बौद्धयोगियों में अवलोकितेश्वर, भव्य, अर्हत् सुभूति, रत्नाकर शान्ति और मंजुश्रीकीर्ति

के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। नागार्जुन ने पारद-सिद्धि से मानव-देह को अमर करने जैसी सिद्धि प्राप्त करली थी। स्वयं उनकी अवस्था ६०० वर्ष कही जाती है। (गङ्गा पुरातत्त्वाङ्क, २१८)।

जैन धर्म में योग

जैन धर्म में योग की बड़ी महिमा है। समाधि शतक, ध्यान शतक, ध्यान विचार, ध्यान दीपिका, अध्यात्म कल्पद्रुम टीका, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, योगभेदद्वात्रिंशका, गोमट सार, गुणस्थान क्रमारोह आदि ग्रन्थों में योग का सम्यक् निरूपण हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (१-२)। यह योग त्रिविध है—सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः। इसमें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र अभीष्ट है। जैन आगमों में १४ गुणस्थान बताये गये हैं—मिथ्यातत्व, सास्वादन, मिश्र, सम्यग्दर्शन, देश विरति, प्रमत्त श्रमणत्व, अपूर्व करण, अनिवृत्ति, सूक्ष्म लोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली। मोक्ष प्राप्ति तक की ये विभिन्न अवस्थाएं हैं जिनका निर्धारण बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है। यशोविजय उपाध्याय ने पञ्चविध और अष्टविध योग का निरूपण किया है। जैनाचार्य हठयोग को अनावश्यक मानते हैं और प्राणायाम का भी निषेध करते हैं। जैनियों में अनेक योगी हुये हैं जिनमें आनन्दघन (१७ वीं शती) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सिद्ध एवं नाथ सम्प्रदायों में योग

सिद्धों और नाथों में योग का स्थान सर्वोपरि है। जिन लोगों ने इनके स्फुट उद्धरणों से इन्हें शराबी और व्यभिचारी सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे सिद्धों के गम्भीर सिद्धान्तों को समझ ही नहीं पाये हैं। सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लूहिपा, तिलोपा, भुसुक, जालन्धरपा, मीनपा, कण्हपा, नारोपा, शान्तिपा आदि विशेष विख्यात हैं। सिद्धनारोपा

दीपङ्कर श्रीज्ञान के गुरु थे । नाथ सम्प्रदाय में मद्य-माँस का कठोर निषेध है तथा योगासन, नाडीज्ञान, षट्चक्र बेध और प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति नाथ-योग के मुख्य अङ्ग हैं । इस सम्प्रदाय में ९ नाथों की प्रधानता है—गोरक्षनाथ, ज्वालेन्द्र नाथ, कारिण नाथ, गहिनी नाथ, चर्पट नाथ, रेवणनाथ, नाग नाथ, भर्तृनाथ, तथा गोपीचन्द्र नाथ ।

थियोसॉफी एवं योग

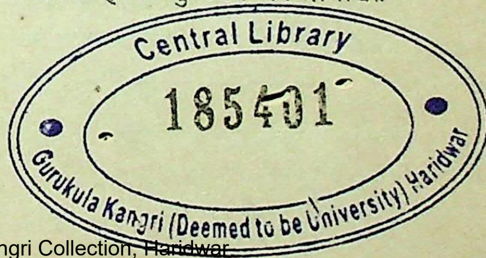
थियोसोफिस्टों में ऐसी मान्यता है कि अदृश्य दिव्य आत्माएं साधक को सहायता पहुंचाती हैं । थियोसॉफिकल सोसायटी के प्रथम अध्यक्ष कर्नल ऑलकॉट स्वयं किसी भारतीय योगी के कृपापात्र थे । मैडम ब्लेवेत्स्की ने तिब्बत में तातार शैमन के संरक्षण में विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । इन्हें भी ऑलकॉट की भाँति अपने दैवी संरक्षक के दर्शन हुए थे । योगी टी० सुब्बाराव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उन्हें स्वयं श्री दत्तात्रेयजी ने दर्शन दिये ।

भारत के समान तिब्बत भी योगियों का आश्रम है । डान-टान-पा और पो-टो-पा नामक तिब्बती योगियों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं ।

योग के भेद तथा उनका आधार

व्यक्तियों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं । रुझानों की भाँति ही व्यक्तियों की पात्रताएं भी पृथक्-पृथक् होती हैं । इसी तरह सभी के आन्तर व्यक्तित्त्व का गठन भी एक जैसे संस्कारों और उपादानों से नहीं होता, अतः साधकों में भिन्नता होने के कारण साधनों में भी भिन्नता होती है । योग के नाना प्रकार हैं किन्तु उनमें निम्नलिखित योगों की प्रमुखता है –

(१) ज्ञान योग
(२) कर्म योग
(३) भक्ति योग



ज्ञान योग

मेहर बाबा के अनुसार ज्ञान-योग का निम्नलिखित स्वरूप है—

(क) यथार्थ बोध से उत्पन्न होने वाले वैराग्य का अभ्यास

(ख) ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाएं

(ग) विवेक और अन्तर्दृष्टि का निरन्तर उपयोग ।

श्री अरविन्द के अनुसार जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग पुरुषार्थ करता है वह उससे भिन्न है जिसे मनुष्य सामान्य रूप से ज्ञान समझा करते हैं । सामान्यतः ज्ञान का अर्थ-प्राण, मन एवं जड़ तत्त्व के तथ्यों एवं उन्हें नियन्त्रित करने वाले नियमों के बौद्धिक विवेचन से होता है जिसका आधार इन्द्रिय-वोध और उसके आधार पर किये गये तर्क होते हैं जिनका अनुसरण कभी केवल बौद्धिक तृप्ति के लिए और कभी कुछ व्यावहारिक कौशल की प्राप्ति के लिए किया जाता है। यौगिक ज्ञान मन से परे उस गुप्त चेतना में प्रविष्ट होने का यत्न करता है जो यहाँ केवल गुह्य रूप मे विद्यमान है तथा सत्ता मात्र के आधार में अन्तर्हित है। परम निश्चल आत्मा या चरम शून्य ही एकमात्र सत्य है और आध्यात्मिक ज्ञान का एकमात्र विषय है। ज्ञान की जो चेतना हमें प्राप्त करनी है वह निर्वाण है—अहं का लय, समस्त मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओं का निरोध, परम प्रकाशयुक्त निश्चलता, आत्मलीन, अनिर्वचनीय निर्वैयक्तिक प्रशान्ति का विशुद्ध आनन्द जिसका साधन है विशुद्ध बुद्धि, एकाग्रता और त्याग ।

उनके मत में ज्ञान योग का प्रथम लक्ष्य है ईश्वर-प्राप्ति और द्वितीय लक्ष्य द्विव्य अस्तित्त्व एवं दिव्य प्रकृति को धारण करना है। त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषत् ने ज्ञानयोग के सम्बन्ध में लिखा है:--

यस्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥

'श्रेयस्कारक अर्थ में चित्त का बद्ध रहना ज्ञान योग है। यह ज्ञान योग सब सिद्धियों का दाता और कल्याणकारी है।''

कर्म योग

कर्म योग पर प्रकाश डालते हुए स्वामी शारदानन्द जी ने कहा हैं--कर्म योग क्या है ?—कर्म करने की कुशलता (योगः कर्मसु कौशलम्)। इस प्रकार की कुशलता से कर्म किया जा सकता है कि कर्म के अनुष्ठान से फिर बन्धन में न फँसना पड़े, जिससे अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के साथ हम कार्यों को कर सकें। इस कार कर्म कैसे किया जा सकता है ?—अपने लाभ की ओर दृष्टि न रखने पर। जहां कहीं भी स्वार्थ है, वहीं फल की आशा है और वहीं आसक्ति आकर उपस्थित होती है।' (गीता-तत्व, ७१) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् का कथन है—

कर्म कर्त्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

'विहित कर्मों में ही कर्त्तव्य-बुद्धि का निश्चय करते हुए मन की नित्य प्रवृत्ति का नाम कर्म योग है।'

श्री शिवराम किंकर योगत्रयानन्द जी के अनुसार ज्ञान योग और भक्ति योग का मूल है कर्म योग। अनेक जन्मों में वेद विहित कर्म करते-करते लोगों में भगवान् के प्रति प्रेम होता है। भगवान् को जानने की इच्छा होती है। अतएव ज्ञान और भक्ति कर्म से उत्पन्न होते हैं। इसलिए मनुष्य बुद्धिमान् होने पर ऐसा कर्म कर सकता है कि वह एक ही जन्म में ज्ञानी और भक्त बन कर भगवान् के साथ युक्त होकर मानव जीवन सफल करने में समर्थ हो। इसलिए तीनों योगों में कर्म योग ही प्रधान है क्योंकि वह ही अन्त में ज्ञान योग और भक्ति योग में परिणत हो जाता है।

भक्तियोग

भक्ति रसायन के अनुसार भगवान् के गुण, माहात्म्य, कृपा

आदि का स्मरण कर चित्त का द्रवीभूत होना और धारावाहिक रूप से मन की सब वृत्तियों का भगवद् विषयक हो जाना ही भक्ति है—

द्रुतस्य भगवद् धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्ति रित्यभिधीयते ॥

नारद पञ्चरात्र का मत है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

'सारी कामनाओं से मुक्त, तत्परता पूर्ण और निर्मल मन से समस्त इन्द्रियों द्वारा प्रभु की सेवा ही भक्ति कहलाती है।'

श्रीमद्भागवत (३।२६।११-१२) के अनुसार भगवान् पुरुषोत्तम में भक्ति का लक्षण यह है कि भगवद् गुणों का श्रवण करते ही मन की धारा सर्वान्तर्यामी प्रभु में इस प्रकार प्रवाहित होने लगे जैसे गंगा की धारा अखण्ड रूप से सागर में जा मिलती है—

मद्गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

भगवान् शङ्कराचार्य 'विवेक चूडामणि' में कहते हैं—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

'मोक्ष प्राप्ति के साधनों में भक्ति का स्थान सबसे ऊँचा है। भक्ति है अपने आत्मस्वरूप की खोज।'

महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—भगवान् में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। नारद के शब्दों में 'सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' (२)—परमात्मविषयक परम-प्रेमरूपिणी वृत्ति ही भक्ति है। उनका मत है—

'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा।' (२५)

'भक्ति कर्म योग और ज्ञान योग से अधिक महत्त्वपूर्ण है।' योगीराज जयतीर्थ 'श्रीमन्न्यायासुधा' में लिखते हैं—'तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्त-वस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तराय सहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।' अर्थात् 'अपरिमित अनवद्य कल्याण गुणों के ज्ञान से उद्भूत, अपने समस्त सम्बन्धीजन तथा पदार्थों से ही नहीं, प्राणों से भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आने पर भी न टूटने वाला, अत्यधिक सुदृढ़, गङ्गाप्रवाहवत् अखण्ड प्रेमप्रवाह ही भक्ति है।'

मेहर बाबा भक्ति योग को ज्ञान योग तथा कर्म योग से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं--'वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायक की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेम से बढ़कर कोई साधना नहीं है, प्रेम से ऊँचा कोई नियम नहीं है और प्रेम से परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, क्योंकि प्रेम भगवत्स्वरूप होने पर अनन्त हो जाता है। प्रेम के मार्ग में भगवान् के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधन में नहीं होता। साधना में सामान्यतः प्रयत्न रहता ही है, परन्तु भक्ति योग में प्रयत्न का भाव नहीं रहता, क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्ची आध्यात्मिकता का स्वरूप है।'

इनके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में हठ योग, मन्त्र योग, लय योग आदि का वर्णन मिलता है। योगी याज्ञवल्क्य ने 'अयं तु परमोधर्मोयद्योगेनात्मदर्शनम्' कह कर योग की वास्तविक महत्ता प्रकट की है।

योग की शक्तियाँ

योगी हमारी संस्कृति की सर्वोत्तम सृष्टि है। वह सारी परि-स्थिति का पूरा-पूरा आकलन करता है और इस आकलन को एकाग्र

भाव से एक ही दिशा में ले जाता है। काका कालेलकर के शब्दों में, 'जैसे सूर्यकान्त मणि का काँच सूर्य की सब किरणों को एकत्र करके तेजस्वी बनाता है और केन्द्र में पड़ने वाले ज्वालाग्राही पदार्थों को जलाता है वैसे ही योग विद्या के योग से मनुष्य की सामान्य शक्ति असाधारण भाव से एकत्र होती है और उसमें से अलौकिक शक्ति का निर्माण होता है।' काका आगे कहते हैं— योग कला के योग से शारीरिक शक्ति बेहद बढ़ाई जा सकती है, प्राण शक्ति दुर्दमनीय हो जाती है, बुद्धि शक्ति की प्रतिभा चमकने लगती है, स्मरण शक्ति भी हजारों गुना बढ़ जाती है। इसके सिवा पूरी योग कला का उपयोग जब आत्म-शुद्धि करके आत्म विकास में किया जाता है तब सत्य संकल्प आत्मा जो चाहे कर सकता है।'

योग तथा सिद्धियाँ

योग साधना से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति की बात सत्य है। महर्षि पतञ्जलि ने स्वयं उनका उल्लेख किया है। धर्म, अवस्था और लक्षण में संयम के परिणाम स्वरूप योगी को भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है, शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभागों में संयम करने पर सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है, संस्कारों के प्रत्यक्ष से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, ज्ञान में संयम करने पर दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है, कायिक रूप में संयम करने से अन्तर्धान होने की शक्ति आती है, सोपक्रम तथा निपरुक्रम कर्मों में संयम के फल-स्वरूप मृत्यु का ज्ञान होता है। मैत्री, मुदिता, करुणा तथा उपेक्षा में संयम करने से आत्मबल, बल में संयम करने से शरीर बल, प्रकाश में संयम से सूक्ष्म गुप्त और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान, सूर्य में संयम करने से स्थूल और सूक्ष्म लोकों का ज्ञान, चन्द्रमा में संयम करने से नक्षत्र व्यूह का ज्ञान, ध्रुव में संयम से ताराओं की गति का ज्ञान, नाभिचक्र में संयम से शरीर-समुदाय का ज्ञान और कण्ठ-कूप में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति रूपी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। कूर्मनाड़ी में संयम

करने से स्थिरता, कपाल की ज्योति में संयम करने से सिद्ध-दर्शन, प्रतिभ में संयम से पूर्ण ज्ञान, हृदय में संयम से चित्त-ज्ञान, उदानवायु के जय से अमरता, समान वायु के जय से ज्योतिर्मय शरीर, शरीर और आकाश में संयम से आकाश-गमन, पंच तत्वों की अवस्थाओं पर संयम से भूत जय और अष्ट सिद्धियाँ, इन्द्रियों की वृत्ति में संयम से इन्द्रिय-जय तथा बुद्धि एवं पुरुष में पार्थक्य ज्ञान सम्पन्न योगी को सर्व-भावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है। वस्तुतः आत्म-साक्षात्कार ही सबसे बड़ी सिद्धि है। श्रेयस्कामी साधक और योगीगण अन्य सिद्धियों का आदर नहीं करते। भगवान् बुद्ध ने पिण्डोल भारद्वाज की भर्त्सना इस बात के लिए की किसी गृहस्थ के कहने पर वह वायु में उड़ गये थे। विनय नामक आचार ग्रन्थ में भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि वे गृहस्थों के सम्मुख अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन न करें। महायान सम्प्रदाय के बौद्धों में सिद्धि-प्रदर्शन का बहुत प्रचार हो चला था जिसने पतन का मार्ग खोला।

योगी ईश्वर सदृश हो जाता है। संसार में उसका रहना ही संसार के लिए परम मङ्गल कारक है। जिस किसी को उसका स्पर्श हो जाता है, वह पवित्र हो जाता है। उसके प्रभाव क्षेत्र में जो कोई आ जाता है, वही पवित्र हो जाता है। वह चाहे जिसको मुक्त कर सकता है। सृष्टि, स्थिति, संहार की सी शक्ति उसमें आ जाती है। स्वामी विद्यानन्द जी कहते हैं—'हम योग से परमात्मा के असली स्वरूप का अवलोकन कर सकते हैं। हम प्रकृति और उसके विकारों को यथार्थ रूप में देखने योग्य हो सकते हैं। हम पहले क्या और कहाँ थे, आगे क्या और कहाँ होंगे, इत्यादि अनेक जन्म जन्मान्तरों का पता लगा सकते हैं, पाप और पुण्यजनक कर्मों का निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ? इसका पता भी योग से ही लगेगा। संसार में एक-से-एक शक्तिशाली लोग पड़े हैं। उनमें से एक सुचतुर वाग्मी हमें तर्क युक्तियों से आज जो बात समझा गया,

कल उससे भी कोई अधिक वावदूक बड़ी-बड़ी दलीलें देकर विपरीत बोध करा गया, फिर तीसरा आकर और कुछ निश्चय करा गया, इससे हमारा बुद्धि भेद कम होने के बजाय दृढ़ हो गया। हमारी बुद्धि मानो फुटबाल हो गई जिसको खिलाड़ी लोग ठोकरें मार-मार कर इधर से उधर लिये फिरा करते हैं। योग ऐसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य विमर्श-शून्य बुद्धि को कर्त्तव्य-परायण बनाकर भ्रान्त होने से रोक देगा। योग उस अस्थिर और चंचल चित्त-वृत्ति को पर्वत से भी अधिक दृढ़ और समुद्र से भी ज्यादा गंभीर बना देने वाला एकमात्र साधन है। योगी के समक्ष सब झगड़े आप से आप मिट जाते हैं।'



कर्म—रहस्य

कर्म का तात्पर्य

कर्म शब्द डुकृञ् (करणे) धातु से निष्पन्न हुआ है। 'कृ' धातु का अर्थ होता है--करना, व्यापार, हलचल। मनुष्य जो कुछ करता है उसे कर्म कहा जाता है, चाहे वह कायिक हो, चाहे वाचिक या मानसिक। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, "आत्मा की आभ्यन्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एव ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुंचाये जाते हैं, वे ही कर्म हैं।" इस प्रकार स्वामी जी मन के ऊपर बहिर्जगत् के घात-प्रतिघातों (जिनसे हमारे वर्तमान चरित्र का गठन होता है) की समष्टि को कर्म की संज्ञा देते हैं। गीताचार्य श्रीकृष्ण ने कर्म की परिभाषा देते हुए कहा है:—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः।

(गीता ८।३)

[प्राणिमात्र के जीवन का मूल कारण अथवा उसे उन्नत बनाने वाला यत्न ही कर्म के नाम से जाना जाता है।]

कर्म की अनिवार्यता

कर्म अनिवार्य है। एक क्षण के लिए भी कर्मशून्य होना सम्भव नहीं। इच्छा या अनिच्छा से भी प्राणी को कर्म करना ही पड़ता है। कर्म से छुटकारा नहीं। आचार्य श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपनी 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मनुष्य स्तब्ध रहा तो भी उस समय उससे स्तब्ध रहने का कर्म होता है। अच्छा, स्तब्ध रहना या चुप बैठना यह कर्म न माना जाय, तो भी स्तब्ध रहा मनुष्य बिना आयास दूसरे के शब्द सुनता है यह उसका श्रवण रूप कर्म है। उसकी नाक में सुगन्ध या दुर्गन्ध गया तो उसका ग्रहण स्वयं होता ही है, वह वास-ग्रहण का कर्म हुआ। आँख खुले रहने पर बाहर का दृश्य दीखता ही है, इस रीति से उससे दृश्य देखने का कर्म होता है। बाहर की हवा में सर्दी और गर्मी रही तो कुछ भी किये बिना उसके शरीर को उस सर्दी और गर्मी का भास होता है अर्थात् चुप बैठा मनुष्य सर्दी-गर्मी लेने का कर्म करता रहता है। और मलत्याग, मूत्र का उत्सर्ग, पसीना आना, छींकें आदि अनेक स्वाभाविक कर्म उससे स्वभावतया होते रहते हैं। मनुष्य का शरीर स्तब्ध रखा गया तो भी उसके मन के व्यापार बन्द नहीं होते, वह मन से मनन करके अनेक कर्म करता रहता है। निद्रा लेने का कर्म होता ही है तथापि उसमें स्वप्न आने लगे, तो वह स्वप्न देखने का कर्म करता है। यह कर्म कैसे रोका जाय ? स्वप्न अवस्था पर किसका नियन्त्रण है ? और देखिये, यह सब न हुआ, ऐसा भी क्षण भर के लिए मान लीजिये, परन्तु हर एक प्राणी जीवित रहने का कार्य तो करता ही है ! श्वास-प्रश्वास, हृदय की धुक्‌धुक्, आँखों का खोलना और मूँदना—ये कर्म शरीर के स्वभाव से ही होते हैं। इसके अतिरिक्त, शरीर का जीर्ण

होना, रोगी होना, नीरोग रहना आदि कर्म होते हैं, अन्त में यदि मर गया तो मरने का भी एक कर्म उससे होता है । कर्म न करना तो एक क्षणमात्र भी सम्भवनीय नहीं है ।' योगिराज अरविन्द भी मानते हैं कि प्रकृति के जगत् मे शरीरधारी मनुष्य एक क्षण के लिए, एक पल-विपल के लिए भी कर्म नहीं छोड़ सकता, उसका यहाँ रहना ही एक कर्म है, सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ईश्वर का एक कर्म है, केवल जीना भी उसी की एक क्रिया है ।

हमारा दैहिक जीवन, उसका पालन, उसकी निरवच्छिन्न स्थिति एक यात्रा है, एक शरीर यात्रा है, और कर्म के विना वह पूरी नहीं हो सकती । परन्तु यदि कोई मनुष्य अपने शरीर को न पाले-पोसे, यों ही बेकार छोड़ दे, किसी वृक्ष-सा सदा चुप खड़ा रह जाय या पत्थर-सा अचल बैठा रहे तो भी इस वृक्षोचित और शिलावत् अचलता से वह प्रकृति के हाथ से नहीं बच सकता, प्रकृति के गुण-कर्म से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । क्योंकि केवल हमारे शरीर का चलना-फिरना और अन्य कर्म करना ही कर्म नहीं है, हमारा मानसिक जीवन भी तो एक बहुत जटिल कर्म है, वल्कि चंचल प्रकृति के कर्मों का यही बृहत्तर और महत्तर अङ्ग है । यह हमारे बाहरी दैनिक कर्म का आन्तरिक तथा नियामक कारण है । इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपिजातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति जैर्गुणैः ।।

(गीता ३-५)

[कोई प्राणी एक पल के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता, प्रकृति से उत्पन्न गुण हर किसी से बरबस कर्म कराते ही हैं ।]

कर्म-हमारी आन्तरिक आवश्यकता

कर्म को एक अनिवार्य विवशता या बन्धन मात्र समझना ठीक

नहीं। कर्म का हमारी आन्तरिक सत्ता के विकास के अनिवार्य साधन के रूप में बहुत महत्त्व है। आचार्य विनोबा का मत है कि कर्म वह दर्पण है जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अतः हमें कर्म का आभारी होना चाहिए। दर्पण में यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे, तो क्या हम उसे फोड़ डालेंगे ? नहीं, उलटा उसका आभार मानेंगे। इसी तरह यदि कर्म की बदौलत हमारे मन का पाप-दोष बाहर आता है, तो क्या इसलिए हम कर्म से बचना चाहेंगे ? इस कर्म को टालने से क्या हमारा मन निर्मल हो जायगा ? अपने मन का स्वरूप समझने के लिए कर्म बड़े काम की चीज है।

ब्रह्मर्षि सातवलेकर ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है--'अशुद्धि से कष्ट और शुद्धि से सुख होता है। अशुद्धि से शरीर में रोग होते हैं और शरीर शुद्ध होने पर रोग दूर होते हैं। इसी तरह इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चित्त में अशुद्धता से दोषों की उत्पत्ति होती है और शुद्धता से दोषों की निवृत्ति होती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह शुद्ध होगा तभी मानवसमष्टि शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य को मानव-समष्टि शुद्ध हुई है या नहीं, इसका विचार करने की आवश्यकता नहीं, अपनी शुद्धि करने के लिए ही उसे यत्न करना चाहिए। अर्थात् एक मनुष्य भी इस तरह पूर्ण शुद्ध हुआ तो भी उसमें सबका हित ही है क्योंकि सब अशुद्ध होने की अपेक्षा उसमें से एक शुद्ध हुआ तो भी उतनी समाज की शुद्धता होगी। इस बात का विचार करके प्रत्येक मनुष्य को अपनी शुद्धता के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। अपनी पवित्रता, चित्तशुद्धि अथवा आत्मशुद्धि कर्म से ही होती है।'

कर्म-स्वातन्त्र्य

कर्म जिस प्रकार कर्त्ता की प्रकृति से नियन्त्रित होते हैं उसी प्रकार कर्त्ता के मन पर अपने भी समष्टिभूत संस्कार छोड़कर उसकी प्रकृति का निर्माण, निर्धारण और नियमन करते हैं। सत्कार्य की

बार-बार आवृत्ति करने से सत्संस्कार और दुष्कर्म की पुनरावृत्ति से कुसंस्कार बनते हैं। हम यद्यपि पहले किये गये दुष्कर्मों के फल से नहीं बच सकते तथापि अब ऐसे कर्मों की आवृत्ति करने से अपने को रोक सकते हैं और सत्कर्मों का आचरण कर भविष्य के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो सकते हैं। अन्यथा जो एक बार पतित हो चुका उसके उत्थान की कोई सम्भावना ही नहीं रहेगी और ईश्वरीय सृष्टि का प्रयोजन विफल हो जायगा--

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६।५)

[मनुष्य स्वयं अपना उत्थान करे, आत्मा की अधोगति न करे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु है।]

डाकू से सन्त

सम्वत् १७०० के लगभग जैसलमेर में माधवसिंह चौहान नामक एक क्षत्रिय रहते थे। डाकुओं का गिरोह बना कर आसपास के इलाकों को लूटना उनका मुख्य कार्य था। वह विशेष रूप से जंगलों में रहते थे और जब कोई व्यापारी निकलता तो उसे लूट लेते। इसी कारण से सिंध से इधर वस्तुओं का आना जाना लगभग बन्द हो गया था। एक बार देश में भयंकार अकाल पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। उस समय ऊँटों पर अनाज लेकर कुछ यात्री सिंध से आ रहे थे। जिस जङ्गल में माधव सिंह रहते थे उसमें पहुंचते-पहुंचते सूर्य अस्त हो गया। रात्रि की भयानकता के कारण वह लोग आगे नहीं बढ़ना चाहते थे और वहाँ भी लुट जाने की आशंका थी। वहीं ठहर कर वे लोग खाना बनाने लगे।

उनमें से एक ने कहा –'यहाँ ठहर तो गये, कहीं माधवसिंह आ गये और लूट लिया तो बाल बच्चे भी नष्ट हो जायेंगे।' दूसरे ने कहा—

'अब तो रघुनाथ जी ही बचायेंगे ।' माधवसिंह समीप में ही सब सुन रहे थे । वे अचानक ही सबके सामने आ पहुंच गये । इनको देखते ही वे लोग खाना छोड़ कर चिल्लाने लगे । उन्हें रोते चिल्लाते देखकर माधवसिंह बोले– 'भाइयो ! डरो मत । रोटी खा पीकर तुम लोग चले जाओ तुम से कोई कुछ नहीं कहेगा ।' यह कहकर उन लोगों को बिदा कर दिया । माधवसिंह रात भर आग जला कर वहीं बैठे रहे । उन्होंने अपने सारे वस्त्र अग्नि को अर्पित कर दिये । सवेरे साथियों ने पूछा–– 'यह क्या किया ?, माधवसिंह ने उत्तर दिया'—मैं अब कलंकित जीवत नहीं जीना चाहता । आप में से जो लोग सत्य, अहिंसा का जीवन बिताना चाहें, वे मेरे साथ रहें ।' माधवसिंह के त्याग ने सभी साथियों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया । उन सब ने डाकू का जीवन छोड़कर धर्मोचित् कर्मों का सम्पादन आरम्भ कर दिया आगे चलकर यह माधवदास प्रसिद्ध वीतराग सन्त हुए जिनकी गद्दी कोडमदेसर में स्थित है ।

श्री अरविन्द ने जीव के विकास में कर्म की भूमिका को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है, 'हमारे कर्म के भाव का उदय हमारी सत्ता के स्वभाव तथा उसकी आन्तरिक प्रतिष्ठा से होता है, परन्तु स्वयं यह स्वभाव भी हमारे कर्म की धारा और उसके आध्यात्मिक प्रभाव से प्रभावित होता है, कर्म के भाव में बहुत बड़ा परिवर्तन हमारी सत्ता के स्वभाव में और उसकी आन्तरिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन लाता है, यह सचेतन शक्ति के उस केन्द्र को बदल देता है जिससे हम कर्म करते हैं । यदि जीवन और कर्म केवल मिथ्या-माया होते, जैसा कि कुछ लोग कहा करते हैं, यदि आत्मा का कर्म या जीवन के साथ कोई सरोकार न होता तो यह बात न होती, पर हमारे अन्दर जो देही है वह जीवन और कर्मों से अपने आपको विकसित किया करता है और स्वयं तो उतना नहीं, पर जीव की कर्म करने की अन्तः शक्ति की क्रिया का रूप ही

उसकी आत्मसत्ता से साथ उसका सम्बन्ध निर्धारित किया करता है।"

कर्म का प्रयोजन

स्वामी विवेकानन्द भी कर्मानुष्ठान का वास्तविक प्रयोजन आत्म-जागरण मानते हैं। उनका अभिमत है कि हम किसके अधिकारी हैं, हम अपने भीतर क्या-क्या ग्रहण कर सकते हैं, इस सब का निर्णय कर्म द्वारा ही होता है। अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही हैं, और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है, तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किए जायें। कमनुष्ठान की वैज्ञानिक प्रणाली जानने से मनुष्य को श्रेष्ठ फल प्राप्त हो सकता है। समस्त कर्मों का उद्देश्य है मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना, आत्मा को जागृत कर देना। प्रत्येक मनुष्य के भीतर पूर्णशक्ति और पूर्णज्ञान विद्यमान है। भिन्न-भिन्न कर्म इन महान् शक्तियों को जागृत करने तथा बाहर प्रकट कर देने में साधन मात्र हैं।

कर्म और चरित्र

चरित्र पर कर्म का जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अङ्ग-सञ्चालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर एक संस्कार छोड़ जाता है, और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि वे अज्ञात रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में विशेष प्रबल होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। मैं इस क्षण जो कुछ हूं, वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। इसे ही सामान्य रूप से

चरित्र की संज्ञा दी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों की प्रबलता रहे तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है और यदि अशुभ संस्कारों की अधिकता रहे, तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से पूर्ण हो जायगा और उसके जाने बिना ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डाल देंगे। असफल में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। बुरे संस्कारों से सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे—वह एक बुरा आदमी बन जाएगा। ये बुरे संस्कार उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देंगे, वह तो इन संस्कारों के हाथ एक यन्त्र-सा होकर रह जायेगा, वे उसे दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कर्म करने के लिए प्रवृत्त करेंगे। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि जब मनुष्य इतने सत्कार्य और सत्-चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे तो इन सब संस्कारों की समष्टि-स्वरूप उसका मन उसे ऐसा करने से फौरन रोक देगा, इतना ही नहीं वरन् उसके ये संस्कार उसे कुमार्ग पर से हटा देंगे। तब वह अपने सत्संस्कारों के हाथ एक कठपुतली जैसा हो जाएगा।

कर्म कुसंकारों के विनाश और शुभ संस्कारों पर विजय का अचूक साधन है। मुक्ति पाने के लिए अशुभ की भाँति शुभ से भी परे जाना होता है। स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है कि लोहे की जंजीर भी एक जंजीर है और सोने की जंजीर भी। यदि हमारी उँगली में एक

काँटा चुभ जाय तो उसे निकालने के लिए हम एक दूसरा कांटा काम में लाते हैं, परन्तु जब वह निकल जाता है तो हम दोनों को ही फेंक देते हैं। हमें फिर दूसरे काँटे को रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों आखिर काँटे ही तो हैं। इसी प्रकार कुसंस्कारों का नाश शुभ संस्कारों द्वारा करना चाहिये और मन के खराब विचारों को अच्छे विचारों द्वारा दूर करते रहना चाहिए जब तक कि समस्त दुर्विचार लगभग नष्ट या पराजित या वशीभूत न हो जायें। परन्तु उसके उपरान्त शुभ संस्कारों पर भी विजय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए भी कर्म की शरण लेनी होगी। आसक्ति युक्त कर्म बाँधता है, आसक्तिहीन कर्म मुक्त करता है। प्रकृति में अहन्ता का आरोप करने से आसक्ति का जन्म होता है, आसक्ति से प्रबल संस्कार का प्रादुर्भाव होता है जो शुभ या अशुभ फल उत्पन्न करता है। आसक्ति ही बन्धन है जिसके कारण मनुष्य एक दास की तरह कर्म करता है, एक स्वामी की तरह नहीं। आसक्ति सहित कर्म करने से क्लेश और दासता मिलती है। अनासक्त कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठाकर मुक्ति या स्वाधी- में प्रतिष्ठित करता है। निःस्वार्थ कर्म मोक्ष की कुंजी है।

हमारे चारों ओर जगत् में कर्मों का जाल बिछा है। लोग हर समय किसी न किसी उधेड़ बुन में हैं और कर्मचक्र बड़ी तीव्रता से चल रहा है। हर ओर कुछ न कुछ उद्योग हो रहा है। इन कर्मों के पीछे झाँकने पर पता चलता है कि कुछ का सम्पादन धन वैभव के लिये किया जा रहा है। लोग धन कमाने के लिए सिर तोड़ कोशिश में लगे पड़े हैं और इसके लिए उन्हें कर्म की चाकरी करनी पड़ रही है क्योंकि लक्ष्मी उद्योगी और कर्मनिष्ठ का ही वरण करती है। कुछ कर्मों का प्रयोजन यश, कामना है। कीर्ति की आकांक्षा के वशीभूत होकर अनेक लोग कर्म चक्र में प्रवृत्त होते हैं। कुछ लोग इसलिए कर्म में जुटे हैं ताकि उन्हें पुरुषार्थी मानकर उनसे प्रेरणा ग्रहण करें। कतिपय व्यक्ति स्वर्ग मिलने

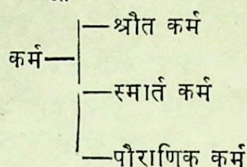
की आशा से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। कुछ मनुष्य प्रायश्चित्त की भावना से अभिभूत होकर, अपने दुष्कर्मों पर लज्जित होकर, कर्मों में संलग्न होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें धन, यश या स्वर्ग की लालसा नहीं सताती। ऐसे लोग स्वान्तः सुखाय कर्म करते हैं, किसी विवशता से नहीं। उनके कर्मों का उद्देश्य शिवेतरक्षति— सामाजिक या जागतिक अमङ्गल का विनाश होता है जिसमें वे सहृदयतावश सम्मिलित होते हैं। इन सत्पुरुषों के कर्मानुष्ठान का उद्देश्य लोकोपदेश या लोक शिक्षण होता है क्योंकि समाज अनुकरणशील है। यदि भले व्यक्ति कर्म से विरत हो जाते हैं तो समाज में दम्भ, क्षरणशीलता, विघटन और नीच नेतृत्व पनपता है इसलिए महापुरुष लोक संग्रह और आत्म शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो कुछ कर्मों का उद्देश्य होता है—जीवन धारण। कुछ कर्म क्षुधा, पिपासा और शीत-उष्ण से निवृत्ति अर्थात् आत्मरक्षण के लिए किये जाते हैं। अनेकों कर्मों के मूल में स्वामित्व-भाव रहता है पर वस्तुतः वे आत्म-विस्तार के कार्य होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कार्यों के मूल में आत्म-प्रकाशन की इच्छा भी रहती है। जिजीविषा, आत्मरक्षण, आत्म-विस्तार और आत्मप्रकाशन के अतिरिक्त कुछ कार्य आत्मरमण के लिए भी किये जाते हैं। आत्मप्रदर्शन से भी कर्म की प्रेरणा मिलती है। कुछ कर्मों का उद्देश्य आत्मिक उन्नयन भी होता है। इन विभिन्न प्रयोजनों के वशवर्ती होकर मनुष्य कर्म-तन्तु का विस्तार करता है। समग्रतः पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

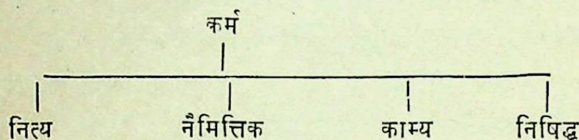
कर्मों के विविध स्वरूप

कर्मों का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है और किया जा सकता है।

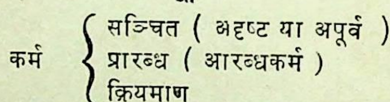
वर्गीकरण क्रमाङ्क १



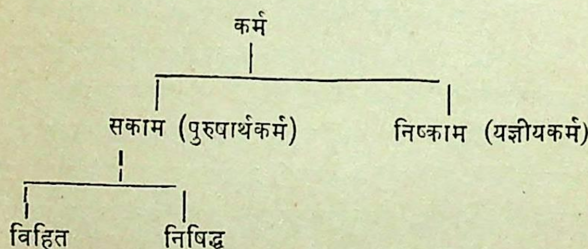
वर्गीकरण क्रमांक २



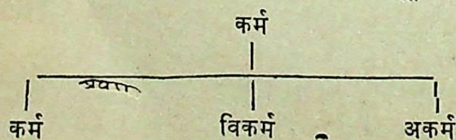
वर्गीकरण क्रमाङ्क ३



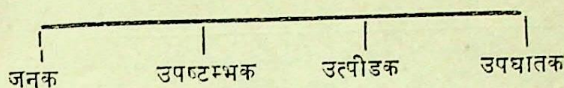
वर्गीकरण क्रमाङ्क ४



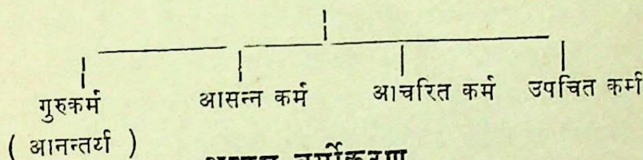
वर्गीकरण क्रमाङ्क ५



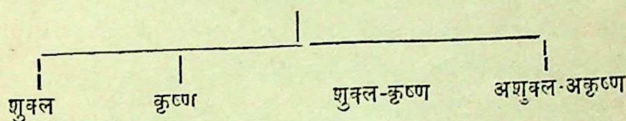
वर्गीकरण क्रमाङ्क ६



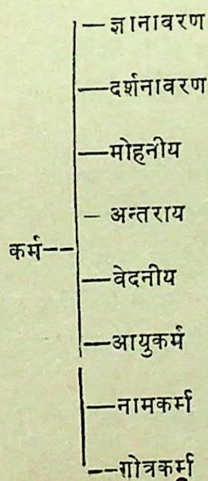
सप्तम विभाजन

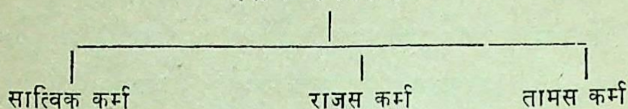


अष्टम वर्गीकरण



नवम वर्गीकरण





प्रथम वर्गीकरण के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—श्रौत, स्मार्त और पौराणिक। श्रौत कर्म का आशय उन कर्मों से है जिनका विधान वेदों में किया गया है। मुख्यतः यज्ञ याग ही श्रौत कर्म है। मनुस्मृति आदि स्मृति ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों और आश्रमों के लिए जिन विधानों का निर्देश है उन्हें स्मार्त कर्म कहते हैं। पौराणिक कर्मों का आशय उन विधानों से है जिनका विस्तृत निरूपण पुराणों में किया गया है जैसे—व्रत, उपवास आदि।

द्वितीय वर्गीकरण के अनुसार कर्म चार प्रकार के होते हैं—

१. नित्य कर्म—जिन कर्मों के सम्पादन से विशेष फल नहीं होता किन्तु न करने से दोष अवश्य लगता है, जैसे--स्नान, सन्ध्या आदि।

२. नैमित्तिक कर्म—जिन कर्मों को किसी कारण विशेष से करना पड़ता है अन्यथा जिनकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे—अनिष्ट ग्रहों की शान्ति आदि।

३. काम्य कर्म—जब हम विशेष कामना रखकर सङ्कल्प पूर्वक शास्त्रीय विधान के अनुरूप कोई अनुष्ठान करते हैं तब वह काम्य कर्म की श्रेणी में आता है, जैसे—पुत्रेष्टि, याग आदि।

४. निषिद्ध कर्म—जिन्हें न करने से विशेष फल नहीं होता किन्तु करने से दोष होता है उन्हें निषिद्ध कर्म कहा जाता है, जैसे--मद्यपान आदि।

तृतीय वर्गीकरण के अनुसार कर्म के तीन रूप या श्रेणियाँ होती हैं :—

(क) सञ्चित कर्म--किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक पूर्व जन्म

या इस जन्म में किये गये कर्म को सञ्चित कर्म कहा जाता है। इसे ही अदृष्ट और अपूर्व भी कहा गया हैं।

(ख) प्रारब्ध कर्म—सभी सञ्चित कर्म एक साथ नहीं भोगे जा सकते। सञ्चित में से जितने कर्मों के फल का भोग पहले प्रारम्भ होता है, उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं।

(ग) क्रियमाण कर्म—जिन कर्मों की अभी समाप्ति या पूर्ण सम्पादन नहीं हुआ है, वरन् जो इस समय सम्पन्न हो रहे हैं और जिनका फल आगे मिलेगा, उन्हें क्रियमाण कहा जाता है।

तृतीय वर्गीकरण का आधार है कर्मफल का भोग और चतुर्थ वर्गीकरण कर्त्ता की भावना पर आश्रित है। जब कर्म करते समय कर्त्ता के मन में अपना विचार रहता है और कर्त्तृत्व का अहङ्कार भी बना रहता है तब उस कर्म को सकाम कर्म कहा जाता है किन्तु जब कर्म सम्पादन के समय कर्त्ता के मन में अपने हित-अहित का विचार नहीं आता और न कर्तापन का अहङ्कार ही शेष रहता है, उसे निष्काम कर्म की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। सकाम कर्म, कर्म की पहली सीढ़ी है। वह जब धर्म नियन्त्रित होता है तब विहित कहलाता है और धर्म प्रतिकूल होने पर निषिद्ध कहकर पुकारा जाता है।

पंचम वर्गीकरण के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ [४।१७]

[कर्म की गति बड़ी गहन है। कर्म, विकर्म और अकर्म का तत्व जानना चाहिए।]

[क] कर्म—स्वधर्म अथवा वर्णाश्रम द्वारा निर्णीत कर्तव्य कर्म कहलाता है। गीता के अनुसार जिन कर्मों से व्यक्ति और समाज की स्थिति होती है और उसका उत्कर्ष होता है, ऐसे प्रशस्ततम यज्ञ रूप कर्मों का नाम ही कर्म है।

[ख] विकर्म—शास्त्र द्वारा निषिद्ध अथवा विरुद्ध और हानिकारक कर्मों को विकर्म कहा जाता है। आचार्य विनोबा चित्त-संशोधन के लिए किये गये कर्मों को विकर्म की संज्ञा देते हैं। उनके शब्द हैं, 'कर्म का अर्थ है स्वधर्माचरण की बाहरी—स्थूल-क्रिया। इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही विकर्म है।' कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए इस 'मन के मेल' को ही विनोबा विकर्म कहते हैं और उसी से निष्कामता का जन्म सम्भव मानते हैं।

[ग] अकर्म – कर्म न करना, आलस्य में चुपचाप रहना अथवा अपने अस्तित्व के लिए भोजन, स्नान, सांस लेना आदि रूप कर्म अकर्म कहलाता है। आचार्य सातवलेकरजी के शब्दों में - 'ऐसे सब कर्म जो केवल मनुष्य के वैयक्तिक अस्तित्व के साधक हैं, वे सब अकर्म हैं।' किन्तु तिलक मानते हैं कि 'करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए, कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। और यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता।' [गीता रहस्य,७१] विनोबा जी तिलक के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहते हैं—

कर्म में विकर्म उड़ेलने से अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है।' (गीता प्रवचन, ५३)

छठे वर्गीकरण के अनुसार कर्म चार प्रकार के होते हैं। महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ के शब्दों में कुशल और अकुशल चेतना ही जनक कर्म कहलाती है। जनक कर्म को फल की उत्पत्ति में सहायता करने वाले कर्म को उपष्टम्भक कहा जाता है। जनक कर्म के परिणाम

को निर्बल करने वाला कर्म उत्पीडक कहलता है। उपघातक कर्म उत्पीडक के समान बाधक तो होता ही है, साथ ही उपष्टम्भक कर्म का ध्वंस कर अपना फल उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। मान लीजिए कि एक आदमी ने एक पत्थर ऊपर फेंका वह पत्थर कुछ दूर जाकर गिर पड़ा। यहाँ उस आदमी का शक्ति-संचर जिसके द्वारा पत्थर ऊपर उठा, जनक कर्म है। पत्थर की जड़ता उपष्टम्भक है, वायु की बाधा उत्पीडक है और मध्याकर्षण उपघातक कर्म है।

सप्तम वर्गीकरण के अनुसार जन्म-क्षण के बाद सबसे प्रथम फल प्रदान करने वाला कर्म आनन्तर्य या गुरु कर्म कहलाता है जो शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी। आसग्न कर्म भविष्यत्-जीवन का नियामक है। गुरु कर्म के अभाव में मरण से पूर्व किया गया कर्म ही आगामी जीवन का नियमन करता है। यह प्रायः चिन्तन रूप होता है। मुमूर्षु के समीप मृत्यु के समय अशुभ निमित्त का उदय न होने देने के लिये सद्ग्रन्थ पाठ, नाम-कीर्तन आदि कर्मों को आचरित कर्म कहा जाता है जिसका उद्देश्य चित्त पर शुद्ध संस्कार छोड़ना होता है। शुभ संस्कार सद् गति में सहायक होते हैं। उक्त कर्मों के अभाव में उप-चित कर्म भावी जीवन का नियमन करते हैं।

अष्टम वर्गीकरण में जिन कर्मों से अपना-पराया किसी का अहित नहीं होता, किसी प्राणी को कष्ट प्राप्त नहीं होता बल्कि सुख मिलता है, उन कर्मों को शुक्ल कर्म कहा जाता है। डॉ० शान्तिप्रकाश आत्रेय के अनुसार इन कर्मों से धर्म की उत्पत्ति होती है। इन कर्मों के फल भोग के अनुसार वासनाओं की उत्पत्ति होती है, इसी कारण कर्मफल भोगने के लिये ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म लेना पड़ता है। ये भी संसार-चक्र में डाले रखने वाले कर्म हैं। समाज के लिए अकल्याणकारी और प्राणियों का अहित करने वाले कर्म कृष्ण कर्म कहलाते हैं जिनसे अधर्म का जन्म होता है। सामान्यतः साधारण व्यक्ति के कर्मों में पाप-पुण्य मिले रहते हैं अर्थात् कुछ कर्मों से दूसरों का कल्याण होता है और

कुछ कर्मों से दूसरों को कष्ट होता है। इन्हें ही शुक्ल-कृष्ण कहा जाता है। फलाशा से शून्य और अनासक्तिपूर्वक सम्पादित कर्मों को अशुक्ल-अकृष्ण कहा गया है। भावनाओं की प्रेरणा द्वारा इनका सम्पादन नहीं होता, अतः धर्म या अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती और परिणाम स्वरूप पुनः जन्म-मरण के चक्र में उलझना नहीं पड़ता।

जैन-दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं – (१) भाव कर्म और (२) द्रव्य कर्म। जीव में राग या द्वेष को भाव कर्म कहा गया है। पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं को द्रव्य कर्म कहा जाता है। ये आठ प्रकार के होते हैं। जीव के ज्ञान गुण को प्रकट न होने देने वाला ज्ञानावरण, इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावित न होने देने वाला दर्शनावरण, जिससे सुख-दुःख हो वह वेदनीय, जीव को मोहित कर श्रद्धा आदि को विकृत करने वाला मोहनीय, आत्म शक्ति के प्राकट्य में बाधक होने वाला अन्तराय, मनुष्यादि शरीरों में बाँधने वाला आयु, ऊँचे या नीचे कुल में उत्पन्न करने वाला गोत्र कर्म और शरीर की नाना अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाला नाम कर्म कहलाता है।

दशम वर्गीकरण के अनुसार कर्म के तीन भेद होते हैं—

१. सात्त्विक कर्म—फल के विषय में उदासीन रह कर, कुशल और निर्दोष रीति से राग-द्वेष छोड़कर किया गया सहज स्वाभाविक कर्म सात्त्विक कहलाता है। गीता के मत में वह आदि में विष और अन्त में अमृत की तरह होता है।

२. राजस कर्म—इसके मूल में फलासक्ति और कर्तृत्व का अहङ्कार निहित होता है। इसमें महत्त्वाकांक्षा का भी योग रहता है। राजस कर्म को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति परिणाम की अनुकूलता से हर्ष और प्रतिकूलता से विषाद और निराशा का अनुभव करता है।

३. तामस कर्म—जो कर्म परिणाम, सामर्थ्य आदि का विचार किये बिना ही मूढतावश आरम्भ किये जाते हैं और जो आदि में मोहक

किन्तु अन्त में खिन्नता पैदा करते हैं, उन्हें तामस कर्म की संज्ञा दी गयी है।

कर्म एवं फल

कर्म से फल का जन्म अवश्यम्भावी है। हर कर्म का कुछ-न-कुछ परिणाम अनिवार्य रूप से होता है। कर्म है कारण और फल है कार्य। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती ही है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि बिना फल उत्पन्न किये कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से रोक नहीं सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म करूँ, तो उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा, विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इसे रोक सके। इसी प्रकार, यदि मैं कोई सत्कार्य करूँ, तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उसके शुभ फल को रोक सके। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

पाप कर्म कृतं किञ्चिद् यदितस्मिन्न हश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥
(शान्ति० १२६।२१)

[हे राजा! चाहे किसी आदमी को उसके पाप कर्मों का फल उस समय मिलता हुआ दिखाई न दे, तथापि वह उसे ही नहीं, उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।]

दुष्कर्म का परिणाम

रामहरि भट्टाचार्य के जीवन की घटना है भादों लगते ही वह सदा की भाँति यजमानों में घूमने के लिए निकले थे। इस साल बरसात देर से शुरू हुई थी, इसलिए इन दिनों आकाश लगातार काली घटाओं से घिरा रहता और रोज ही वर्षा होती। इस बात पर बिना ध्यान दिये ही वह घर से निकल पड़े।

वर्दवान से कालना जाने वाली पक्की सड़क पर सन्ध्या से कुछ पूर्व ही रामहरि तीव्रता से बढ़े चले जा रहे थे। गाँव अभी चार कोस था। आँधी-पानी से भरी भयंकर रात की आशंका से भयभीत होकर

वह दौड़ लगा रहे थे। रात होने लगी किन्तु तूफान रुकने का नाम नहीं लेता। बूंदाबांदी चल रही थी। आँधी के झटके से बड़े-बड़े वृक्षों की डालियाँ तड़ातड़ टूट-टूट कर गिर रही थीं और पक्षी चीं-चीं कर रहे थे। उन्हें चिन्ता यह थी कि रात भर ठहरने के लिए कहीं आश्रय मिल जाय। इसी बीच बड़े जोर से कड़क कर बिजली पास ही किसी पेड़ पर गिरी। रामहरि काँप उठे। आकाश को चीरती हुई विद्युत् शिखा उनकी दोनों आँखों को मानों बेधकर आकाश में विलीन हो गई। रामहरि एक पेड के नीचे खड़े भगवन्नाम ले रहे थे।

इतने में ही अकस्मात् जंगल में उन्हें मनुष्य की बातचीत का स्वर सुनाई पड़ा। पास ही बीहड़ जङ्गल था। लालटैन की रोशनी भी दिखाई दी। रामहरि ने देखा, दो मनुष्य धीरे-धीरे उन्हीं की ओर आ रहे हैं। मनुष्यों को देख कर बड़ी सान्त्वना मिली। दोनों के शरीर शक्ति-शाली थे। उनके एक हाथ में लालटैन और छाता तथा दूसरे हाथ में लाठी थी। रामहरि ने कहा—'भइयो! मैं गोविन्दपुर जाऊँगा, मगर दिन बहुत खराब हो गया, इसलिए रात-ही-रात वहाँ पहुंचना कठिन है। आप लोग कृपया मुझे पास के किसी गाँव में पहुंचा दें जहाँ रात को ठहरा जा सके।' उनमें से एक बोला - पण्डित जी, हमारा घर समीप में ही है। हमारे यहाँ रात-भर विश्राम करने में आपको कोई कष्ट नहीं होगा। प्रातःकाल आपको जहाँ जाना हो, वहाँ चले जाइए।' रामहरि उनके पीछे-पीछे चलकर एक टूटे मकान के सामने आकर खड़े हो गए। एक ने जोर से पुकारा—'अरे धन्ना!'। दरवाजा खुला। एक युवक निकला जिसे देखकर उसने कहा—'धन्ना! आज की यात्रा सफल हुई क्योंकि अतिथि-सत्कार का अवसर मिल गया।'

घर की बीच की कोठरी में उन्हें ठहरा दिया गया। बगल की कोठरी में कुछ बातचीत चल रही थी जिसे ध्यान देकर सुना जा सकता था। कण्ठ स्वर से पता चला कि बातचीत करने वाले हाराण और तीन-कौड़ी तथा हाराण का लड़का धन्ना है। हाराण ने कहा—देखो, तीन-

कौड़ी ! मालूम होता है ब्राह्मण है, गले में जनेऊ है । फिर ब्रह्महत्या का पाप लगेगा ।' तीनकौड़ी बोला—'चलो, तुम भी बड़े डरपोक हो । अब तक ऐसे कितनों का पाप लगा होगा एक और सही । इसके पास काफी पैसे मालूम होते हैं ।' बीच में ही धन्ना बोल पड़ा—'तुम लोगों को कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी । एक ही चोट में काम तमाम ! बस, उसे जरा नींद तो आजाय !' हाराण ने कहा–'चुप रह ! इतना क्यों चिल्लाता है ? सुन लेगा तो कहीं सरक निकलेगा ।' धन्ना ने कहा 'भागेगा कहां ? इन हाथों में पड़कर निकल भागना हँसी खेल नहीं ।'

रामहरि पास में खड़े कदम्बके वृक्ष पर चढ़ गये । पेड़ बहुत घना था और पत्तों की आड़ में छिपने की बहुत जगह थी । ताड़ी पीते पीते नशे में ही हाराण ने कहा—'आज तुझे खाँडा नहीं चलाना पड़ेगा । यह ब्रह्मयज्ञ मैं ही करूंगा ।' उसने धन्ना के हाथ से खांडा लेकर धार देखी । फिर तीनों तड़ातड़ ताड़ी पीने लगे । ज्यादा पी जाने के कारण धन्ना को नींद आने लगी । वह, रामहरि जिस तख्त पर सोये थे, वहीं उन्हीं की चादर ओढ़ कर सो गया । तीनकौड़ी और हाराण ने हरी मिर्च और सत्तू की चाठ खाकर फिर ताड़ी पी ।

झूमता हुआ हाराण तख्त के समीप पहुंचा और पूरे जोर से खाँड़े का वार किया । अरे ! यह क्या ? यह तो रामहरि की बजाय धन्ना का सिर था । उसी क्षण सारा नशा उतर गया और हाय तोबा मच गयी । जब वे लोग उसके शव को लेकर जङ्गल चले गये, तभी रामहरि भट्टाचार्य भी निकल भागे । इस तरह बदी का बुरा फल तुरन्त ही भोगना पड़ा ।

दो राजपूत भाई ऊँट पर चढ़ कर धनार्जन के लिए परदेश जा रहे थे । उन्हें दूर से ही एक साधु दौड़कर सामने आता दिखाई दिया । पास आकर उसने कहा—भाइयो ! आगे मत जाना, बड़ी भयंकर डाइन बैठी है । पास जाओगे तो खा ही जायगी ।' साधु दौड़ता हुआ निकल गया । साधु की बात पर हँसकर दोनों राजपूत भाई भी आगे चल दिये

कुछ दूर जाने पर उन्हें एक जगह सोने की मोहरों की थैलियाँ पड़ी दिखायी दी। वे ठहर गये, ऊँट से उतर कर देखा तो सचमुच सोने की मोहरें हैं। गिनने पर पूरी दस हजार निकलीं। दोनों बहुत प्रसन्न थे क्योंकि अब परदेश जाने की आवश्यकता ही नहीं रही। सोचा दिनभर के भूखे हैं, कुछ खा पी लें तो फिर घर लौटें। बड़े भाई ने कहा—गाँव अधिक दूर नहीं है, जाकर खाने के लिये हलवा-पूरी ले आओ छोटा भाई चला गया।

इधर बड़े भाई के मन में लालच आने लगा—'मुझे तो दस की जगह पाँच हजार ही मिलेंगी। क्या मुझे सब नहीं मिल सकतीं ? मिल क्यों नहीं सकतीं। बन्दूक भर कर रख लूँ। सामने आते ही गोली मार दूंगा। यहां किसी गड्ढे में लाश दबा दूंगा। तब तो सारी मोहरें मेरी हो जायंगी।' छोटे भाई के मन में पाप आया। उसने भोजन में संखिया मिला दिया। हलवा-पूरी लेकर जैसे ही छोटा भाई पहुंचा, उसे दनादन तीन गोलियाँ लगीं और ठण्डा हो गया। बड़े ने सोचा-पहले हलवा-पूरी खालूँ, बाद में लाश गाड़ दूंगा।' हलवा खाने के साथ ही कुछ क्षणों में बड़ा भाई भी ढेर हो गया। लोभ के परिणाम स्वरूप दोनों भाई मृत्यु के ग्रास बन गये।

भलाई का भला फल

सत्कर्म के अनुष्ठान का परिणाम मंगलदायक होता है। ईरान के शाह अब्बास को उनके एक पदाधिकारी ने अपने यहाँ निमन्त्रण दिया। वहां पहुंच कर शाह और उनके परिवारों ने इतना मद्यपान किया कि वे उन्मत्त हो गये। नशे में शाह उठे और उसके अन्तःपुर के द्वार पर पहुंच गये। उस अधिकारी का द्वारपाल इस तरह मार्ग रोके खड़ा था कि उसे धक्का देकर हटाये बिना भीतर जाना सम्भव ही नहीं था। शाह ने तलवार खींच ली और डाँटा—हट सामने से ! नहीं तो, अभी तेरा सिर उड़ाये देता हूं।

द्वारपाल ने नम्रतापूर्वक कहा—मैं अपना कर्त्तव्य-पालन कर रहा हूं। आप मेरे देश के स्वामी हैं, आप पर मैं हाथ नहीं उठा सकता, किन्तु जब तक मैं जीवित हूं, आप भीतर नहीं जा सकते।' मुझे मार कर भीतर आप चले भी जाँय तो बेग में आपको जीवित नहीं छोड़ेगी। शाह लौट गये। दूसरे दिन दरबार में उस पदाधिकारी ने प्रार्थना की—मेरे द्वारपाल ने जो बे अदबी की उसे माफ करें। मैंने उसे आज से अपने यहाँ से निकाल दिया है।'

शाह प्रसन्न होकर बोले—'चलो अच्छा हुआ अब मुझे तुमसे वह कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक माँगना नहीं पड़ेगा मैं उसे अपने अगरक्षकों का सरदार बना रहा हूं। उसे बुलाओ।'

कर्म के अच्छेपन या बुरपन का निर्णय उसके बाह्य स्वरूप से ही सम्भव नहीं। कर्त्ता के मनोभाव और उद्देश्य का महत्व इस दृष्टि से असाधारण है। कभी-कभी उद्देश्य पवित्र होने पर भी परिणाम अशुभ हो सकता है इसलिए परिणाम भी कर्म की एकमात्र कसौटी नहीं। कोई परोपकारी चिकित्सक निष्काम भाव से रोगी के रोग-निवारण के लिए औषधि देता है किन्तु प्रकृति-भेद के कारण उक्त दवा उसकी जान-लेवा बन जाती है। दूसरी ओर कोई वैद्य दुर्भाववश विष मिश्रित औषधि देता है किन्तु काकतालीयन्याय से रोगी वमन करके या उसकी प्रतिक्रिया से स्वस्थ हो जाता है। दोनों परिस्थितियों में परिणाम मनोभाव के बिल्कुल विपरीत है। ऐसी दशा में पहले को दण्डनीय और दूसरे को पुरस्कार के योग्य मानना समीचीन नहीं।

भावभेद परिणामभेद को जन्म देता है। किसी परोपकारी डॉक्टर ने बुढ़ापे में एक हस्पताल बनवाया और वह यहाँ दीन-दुःखियों की निष्काम सेवा करने लगा। एक बार एक धनी आदमी का कोढ़ी लड़का वहाँ भरती हुआ। उसके माँ-बाप ने अपने घरेलू डॉक्टर को भी वहीं पास रहने के लिए नियुक्त कर दिया। वहाँ उसकी चिकित्सा और

सेवा शुश्रूषा होने लगी। उसकी धर्मपत्नी भी सेवा के लिए वहाँ आ गयी। माता-पिता भी बीच बीच में देखने के लिए आते जाते रहते थे। हस्पताल का स्वामी विश्व में आत्मभाव का दर्शन करता हुआ सेवा करता है, घरेलू डाक्टर धन के लोभ से उसकी परिचर्या करता है, धर्मपत्नी स्वधर्म का पालन करने के लिए सेवा करती और माता-पिता लोक-लज्जा वश देखने आते थे। इस तरह भावभेद रहने के कारण एक ही कर्म भिन्न-भिन्न फल प्रदान करता है। ह्यूम लिखते हैं–'मनुष्य का कर्म उसके चरित्र का द्योतक होने के कारण कर्म को ही संसार में नीतिमत्ता का दिग्दर्शक माना जाता है। इसलिए केवल बाह्य परिणाम से उसको सराहनीय या तिरस्कार के योग्य नहीं माना जा सकता। किसी भी कर्म की नीतिमत्ता कर्त्ता के आँतरिक भाव पर सब तरह से अवलम्बित रहती है।'

इस जगत् का सञ्चालन करने वाली एक महाशक्ति है जो न्यायकारिणी है। संसार में हर किसी को धोखा देना सम्भव है किन्तु ईश्वरीय सत्ता को धोखा नहीं दिया जा सकता। वहां देर लग सकती है मगर अन्धेर नहीं। वह भले कार्य का शुभ प्रतिफल और बुरे कर्म का बुरा प्रतिफल देता है। जैसी जिसकी करनी वैसा काटेगा। यह नियम सभी पर लागू होता है। अपने द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। वेद व्यास के अनुसार—

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनु गच्छति॥

'जिस प्रकार हजारों गौओ के बीच में भी बछड़ा अपनी माता के पास चला जाता है उसी प्रकार जीव के किये गये अच्छे-बुरे कर्म उसके पीछे-पीछे चलते हैं।' प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः। जब एक बार कुम्हार का चक्र घुमा दिया जाता है तो गति के अन्त तक घूमता ही रहता है। ~~ठीक~~ इसी प्रकार संचित और प्रारब्ध कर्मों का फल पूर्णतः भोगे बिना शान्ति नहीं।

कर्म तथा बन्धन

कर्म का जन्म 'काम' अर्थात् कामना से होता है। वासना ही कर्म की जननी है। कर्म रूपी वृक्ष का मूल है कामना और फल है भवचक्र—पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरेशयनम् (शङ्कराचार्य)। मूल में भी अतृप्ति है और परिणाम में भी अतृप्ति। कर्मग्रस्त काम-क्रोध से जकड़ा रहता है, उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती, वह आशा-निराशा के झूले में झूलता रहता है, स्नायविक तनाव उसे ग्रस्त रखता है और कभी उसका रक्तचाप कम हो जाता है, कभी बढ़ जाता हैं, नाना आधि-व्याधि से पीड़ित होकर, हाय-हाय करते, कभी हृदय गति रुकने से उसके प्राण निकल जाते हैं। किन्तु मर कर भी चैन नहीं मिलता। इस प्रकार वह कर्म बन्धन में जकड़ जाता है। कर्म से छुटकारा नहीं और हर कर्म के साथ उसका फल जुड़ा हुआ है। कर्मों की काजल-कोठरी में घुस कर क्या काजल की रेखा लगे बिना गुजारा नहीं ? कबीर की भाँति अपनी चादर जस की तस लौटा देने का क्या कोई मार्ग नहीं ? क्या वह गुलाम की तरह ही कर्मों का बोझ अपने सिर पर लादे रहेगा ? क्या वह निर्लिप्त आत्मा के रूप में स्वयं का साक्षात्कार कभी नहीं कर पायेगा ?

इस विश्व का मूल है कर्म। परब्रह्म, पुरुष प्रकृति या परमाणु में गति, कर्म, क्रिया या व्यापार के होने से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कर्म के द्वारा ही विश्व की स्थिति, गति और अन्त होते रहते हैं। कर्म का प्रवाह सृष्टि के आदि से प्रलय पर्यन्त चलता रहता है। यह कर्म संसार के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, अणु-परमाणु में विद्यमान है। समस्त प्राणि-शरीरों के अन्दर भी इस कर्म की प्रतीति होती है। यह निर्णय करना कठिन है कि इस विश्व-प्रपञ्च या कर्मचक्र में जीव कब से फँसा है ?

पं० चैनसुखदास जी ने लिखा है—'आत्मा और कर्म का संबंध

अनादि है । जब से आत्मा है तब से ही उसके साथ कर्म लगे हुये हैं। प्रत्येक समय पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के राग-द्वेष आदि भावों द्वारा नये कर्म बँधते रहते हैं । यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती । जैसे अग्नि में बीज जल जाने पर बीज की परम्परा समाप्त हो जाती है, वैसे ही राग-द्वेषादि विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलती । कर्म अनादि होने पर भी सान्त हैं ।' स्वामी कृष्णानन्द जी का कथन है 'यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि एक बार जीव के अन्तःकरण पर कर्म के संस्कार पड़ गये तो फिर आगे विश्व-यन्त्र में से उसका बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है । कर्म-प्रवाह में पड़े हुए जीव को आज का किया कर्म फल भोगना पडता है । कल का परसों, पहले का इस जन्म में, इस जन्म का अगले जन्म में—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक कर्म और फल-भोग का सिलसिला लगा रहता है । वह निरन्तर पूर्व कर्मों के फल को भोगता जाता है और साथ ही नये कर्मों की सृष्टि करता रहता है । इस प्रकार कर्म-प्रवाह अनादि और अनन्त है । इस सृष्टि का प्रलय होने पर भी कर्म प्रवाह का आत्यन्तिक नाश नहीं होता । पुनः सृष्टि का आविर्भाव होने पर उन्हीं जीवों का पुनरागमन होता है ।

'Evolution of Man' के रचयिता हीगेल यह कहते हैं कि सृष्टिचक्र मनुष्य को जिस ओर खींचता है, उसे उस ओर जाना ही पड़ता है । इस विश्व में कोई भी जीव अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है । मनुष्य आज जो कृत्य करता है वह उसकी इच्छा पर अवलम्बित नहीं है । संस्कारानुसार परतन्त्र होकर कर्म करना ही पड़ता है ।'

कर्म और स्वतन्त्रता

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार-चक्र प्राणिमात्र को कर्म

करने की प्रेरणा देता है तथापि कर्म की दिशा का बदलना, अमुक कर्म करना या न करना मनुष्य के अधिकार में है। इसी कारण से मनुष्य सदाचारी बनता है। प्रकृति जीव को नियमानुसार सदा संसार-चक्र में घुमाती रहती है, तथापि ज्ञान के द्वारा जीव अपनी मानसिक शक्ति का उपयोग करके उन्नति कर सकता है। जिस प्रकार जल स्वभावत: नीची भूमि की ओर बहता है परन्तु यदि उसका वायु से संयोग हो जाय तो ऊपर की ओर भी प्रवाहित होने लगता है, इसी प्रकार बहिर्मुख प्रवृत्ति वाले मन का सम्बन्ध प्रबल आत्मा की शक्ति के साथ करा दिया जाय तो उसकी विपरीत गति हो जायगी। कारण यह है कि आत्मा में अनन्त और अविनाशी शक्ति है। आत्मा की शक्ति का ह्रास या नाश कभी नहीं होता—न हि दुष्टुर्द्दष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। बृहदा० ४।३।२३) जैन दर्शन भी मानता है कि जीव चाहे तो अपने शाश्वत गुणों तथा अनन्त शक्ति के द्वारा आत्म विकास करके कार्मिक शरीर का क्षय कर सकता है। इसी कारण जीव के भाग्य निर्माण की सम्भावना सदैव बनी रहती है। जैन दर्शन कर्मों को आत्मा का गुण नहीं मानता। वह केवल संयोग सम्बन्ध स्वीकार करता है क्योंकि पाप-पुण्य रूप कर्म अगर आत्मा के गुण हों तो वे कभी उसके बंधन के कारण नहीं हो सकते। यदि आत्मा का गुण स्वयं ही उसे बाँधने लगे तो कभी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। बन्धन मूल वस्तु से भिन्न और विजातीय होता है। ये पुद्गल हैं।

कर्मों की सम्पादिका—प्रकृति

जब तक जीवन है तब तक कर्म अनिवार्य है। केवल विचार करना भी या, विचार के अभाव में, केवल जीना भी अपने आप में एक कर्म है और अनेक कार्यों का कारण है। संसार में विद्यमान सत्तामात्र—मिट्टी के ढेले की जड़ता भी और निर्वाण के किनारे पर पहुंचे हुए निश्चल बुद्ध की शान्ति भी—एक कर्म है, शक्ति है, सामर्थ्य है और वह

अपनी उपस्थिति मात्र से समष्टि पर सक्रिय प्रभाव डालती है। श्री अरविन्द कर्तृत्व की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, 'सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अन्त:स्थ शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए उसके द्वारा कार्य करती है और वह शक्ति उद्भूत होती है अनन्त से। इस बात को जानना और कामना तथा अहम्मूलक प्रेरणा के भ्रम से मुक्त होकर प्रकृति के स्वामी की उपस्थिति तथा सत्ता में निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है न कि शरीर के द्वारा कर्म का त्याग, क्योंकि कर्मों का बन्धन तो तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। कोई मनुष्य सदा के लिए स्थिर और निश्चेष्ट बैठा रह सकता है और फिर भी वह अज्ञान से उतना ही बँधा हो सकता है जितना एक पशु या कृमि। किन्तु यदि वह इस महत्तर चेतना को अपने अन्दर क्रियाशील बना सके तो सब लोकों का सब कर्म उसके हाथों से सम्पन्न हो सकता है और फिर भी वह निश्चल, पूर्णतया स्थिर, शान्त एवं समस्त बन्धनों से मुक्त रह सकता है।'

कर्म तथा मुक्ति

लोकमान्य तिलक कहते हैं कि कर्म स्वभावत: अन्धा, अचेतन या मृत होता है। वह न तो किसी को स्वयं पकड़ता है, और न किसी को छोड़ता ही है। वह स्वय न अच्छा है, न बुरा। मनुष्य अपने जीव को इन कर्मों में फँसा कर इन्हें अपनी आसक्ति से अच्छा या बुरा, और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसी लिए कहा जा सकता है कि इस ममत्वयुक्त आसक्ति के छूटने पर कर्म के बन्धन आप ही टूट जाते हैं, फिर चाहे वे कर्म बने रहें या चले जायें।

उज्जैन में शिखिध्वज नामक राजा द्वापर के अन्त में शासन करता था—जिसकी पत्नी चूडाला ब्रह्मज्ञानी थी। रानी की प्रेरणा पर महाराज तपस्या करने के लिये वन चले गये। उन्होंने अति कठोर तप

किया। चूडाला एक तेजस्वी ऋषिकुमार का रूप बनाकर उनके सम्मुख आकाश से उतरी। पूछे जाने पर आत्म-परिचय देते हुए राजा ने कहा—' ं। मैं जन्म-मरण के बन्धन से ीं मिली है। मैं असहाय

ऋ त्यान्तक नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। ज्ञा अकर्त्ता है। उसके कर्म उसके लिए बन्धन नहीं ब ानी। सभी देवता और श्रुतियाँ ज्ञान आप तप को मोक्ष का हेतु मान ात्र के भ्रम में क्यों पड़े हैं ?

शिरि रके मुझे ज्ञान का उपदेश क

चूडा ले आपको तत्वज्ञान का ग ही ग्रहण किया और

राज ु जब ऋषि-कुमान ने ाजा ने अपने आश्रम की वस्तुयें एकत्र कर उनमें अ याग हुआ या नहीं उन्होंने एक करके आग में डाल दिय

ऋ कुछ नहीं छोड़ा है। सर्वत्याग । आपने जो कुछ जलाया, उस क्या था ?'

राज ी आहुति देने को उद्यत हो गये आपका है, यह भी

अपनी उपस्थिति मात्र से समष्टि पर सक्रिय प्रभाव डालती है। श्री अरविन्द कर्तृत्व की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, 'सच तो यह है कि [illegible] ति अपनी अन्तःस्थ शक्ति [illegible] ती है और वह शक्ति उद्भूत हो [illegible] और कामना तथा अहम्मूलक प्रेरणा के भ्रम [illegible] के स्वामी की उपस्थिति तथा सत्ता में निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है न [illegible] योंकि कर्मों का बन्धन तो तुरन्त [illegible] सदा के लिए स्थिर और निश्चे [illegible] अज्ञान से उतना ही बँधा [illegible] न्तु यदि वह इस महत्तर चे [illegible] सब लोकों का सब कर्म [illegible] फिर भी वह निश्चल, [illegible] मुक्त रह सकता है। [illegible]

कर्म तथ [illegible]

लो [illegible] न्धा, अचेतन या मृत होत [illegible] और न किसी को छोड़ता [illegible] ष्य अपने जीव को इन कर्मों [illegible] या बुरा, और शुभ या अ [illegible] ता है कि इस ममत्वयुक्त [illegible] ही टूट जाते हैं, फिर चाहे वे [illegible]

उज्जै [illegible] अन्त में शासन करता था—जि [illegible] की प्रेरणा पर महाराज तपस्य [illegible] अति कठोर तप

किया। चूडाला एक तेजस्वी ऋषिकुमार का रूप बनाकर उनके सम्मुख आकाश से उतरी। पूछे जाने पर आत्म-परिचय देते हुए राजा ने कहा—'संसार के भय से मैं इस वन में रहता हूं। मैं जन्म-मरण के बन्धन से उद्विग्न हूं। कठोर तप से भी मुझे शान्ति नहीं मिली है। मैं असहाय हूं। आप मुझ पर कृपा करें।'

ऋषिकुमार ने कहा—कर्मों का आत्यन्तिक नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। ज्ञानी कर्म करते हुए भी अकर्त्ता है। उसके कर्म उसके लिए बन्धन नहीं बनते, क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं रहती। सभी देवता और श्रुतियाँ ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानती हैं, फिर आप तप को मोक्ष का हेतु मान कर क्यों श्रान्त हो रहे हैं ? आप नानात्व के भ्रम में क्यों पड़े हैं ?'

शिखिध्वज ने कहा—मैं आपका शिष्य हूं, कृपा करके मुझे ज्ञान का उपदेश करें।

चूडाला ने कहा—'आपकी पत्नी ने तो बहुत पहले आपको तत्वज्ञान का उपदेश दिया था किन्तु आपने न उसका उपदेश ही ग्रहण किया और न सर्वत्याग का ही आश्रय लिया।'

राजा ने वन छोड़ने का संकल्प कर लिया। परन्तु जब ऋषि-कुमान ने वन-त्याग को भी सर्वत्याग नहीं माना, तब राजा ने अपने आश्रम की ममता भी छोड़ दी। उन्होंने कुटिया की सब वस्तुयें एकत्र कर उनमें आग लगा दी। राजा अब सोचने लगे कि सर्वत्याग हुआ या नहीं उन्होंने आसन, कमण्डलु, दण्ड आदि सभी कुछ एक-एक करके आग में डाल दिया।

ऋषिकुमार ने कहा—'राजन् ! अभी आपने कुछ नहीं छोड़ा है। सर्वत्याग के आनन्द का झूठा अभिनय मत कीजिये। आपने जो कुछ जलाया, उसमें सभी वस्तुएं प्रकृति निर्मित थीं, आपका क्या था ?'

राजा ने दो क्षण सोचा और अपने शरीर की आहुति देने को उद्यत हो गये। ऋषिकुमार ने रोका—यह शरीर आपका है, यह भी

आपका श्रय है। इसका निर्माण भी प्रकृति द्वारा हुआ है। इसे नष्ट करने से कुछ लाभ नहीं।'

'तब मेरा क्या है ?' अब नरेश थके-से बैठ गये और पूछने लगे।

ऋषिकुमार ने कहा– 'यह अहंकार ही आपका है। आप इस अहंकार को कि यह सब मेरा है, छाड़ दीजिये। ससीम में अहं भाव छोड़ने पर ही आपका सर्वत्याग पूरा होगा।'

फल के प्रति आसक्ति ही बन्धन और कर्मत्व है। कर्त्ता जब अनासक्त हो जाता है तो कर्मों का दोष समाप्त हो जाता है और उसकी स्थिति जल में कमल-पत्र की तरह निर्लेप हो जाती है। इस प्रकार निष्काम कर्म का अनुष्ठान न केवल कर्म-दोष से बचा देता है वरं कर्म को आनन्द का स्रोत भी बना देता है। वासना से छुटकारा ही मोक्ष है। श्री अरविन्द ने 'योग-समन्वय' (पृष्ठ ११८) में इस सम्बन्ध में लिखा है—'कर्म के क्षेत्र में कामना अनेक रूप धारण करती है। उनमें सबसे अधिक प्रबल रूप है अपने कर्मों के फल के लिए प्राणमय पुरुष की लालसा या उत्कण्ठा। जिस फल की हम लालसा करते हैं वह आन्तरिक सुख रूपी रस्कार हो सकता है, वह किसी अभिमत विचार या किसी प्रिय सङ्कल्प की पूर्ति या अहङ्कारमय भावों की तृप्ति या अपनी उच्चतम आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की सफलता का गौरव रूपी पुरस्कार हो सकता है, अथवा वह एक बाह्य पारितोषिक हो सकता है, अर्थात् एक ऐसा प्रतिफल जो सर्वथा स्थूल हो, जैसे धन, पद, प्रतिष्ठा, विजय, सौभाग्य अथवा प्राणिक या शारीरिक कामना की किसी और प्रकार की तृप्ति। परन्तु ये सब समान रूप से कुछ ऐसे फन्दे हैं जिनके द्वारा अहं भाव हमें बाँधता है। सदा ही ये सुख-सन्तोष हमारे अन्दर यह भाव और विचार पैदा करके कि हम स्वामी और स्वतन्त्र हैं, हमें छला करते हैं, जबकि वस्तुतः अन्ध कामना की कोई स्थूल या सूक्ष्म, भली या मूर्ति बुरी ही–जो जगत् को परिचालित

करती है,—हमें जोतती और चलाती है अथवा हम पर सवार होती और हमें कोड़े लगाती है ।"

साधारण मनुष्य अपने फल के आस-पास काँटे की बाड़ लगाता है पर इससे वह मिलने वाले अनन्त फल गँवा बैठता है । विनोबा कहते हैं कि सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्प फल प्राप्त करता है । टॉलस्टाय कहते हैं कि लोग ईसा मसीह के बलिदान की बहुत स्तुति करते हैं परन्तु ये संसारी जीव तो रोज न जाने अपना कितना खून सुखाते हैं, दौड़-धूप करते हैं । पूरे दो गधों का बोझ अपनी पीठ पर लादकर चक्कर काटने वाले ये संसारी जीव, इन्हें ईसा से कितना गुना अधिक कष्ट, कितनी ज्यादा इतनी दुर्गति ! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान् के लिए उठाएं तो सचमुच ईसा से भी बढ़ जाएंगे । संसारी मनुष्य की तपस्या सचमुच बड़ी होती है, परन्तु होती है वह क्षुद्र फलों की खातिर । जैसी वासना, वैसा ही फल ।

कर्म तथा फलासक्ति

फल त्याग से अनन्त गुना फल मिलता है । जो नहीं चाहता, लक्ष्मी उसकी दासी बनती है । ऐसा नहीं कि ऐसे कर्त्ता का कर्म ही निष्फल होता है अथवा करना न करने जैसा रहता है । परमार्थी मनुष्य का कर्म आत्म-विकास करता है, संसारी मनुष्य का कर्म आत्म बन्धन करता है । दोनों के कर्म एक जैसे होते हैं मगर कर्म के तत्व को समझने वाला व्यक्ति फलासक्ति छोड़ कर कर्म में ही रमता है । फलासक्त व्यक्ति का बहुत समय फल सम्बन्धी स्वप्न-चिन्तन में नष्ट होता है, शक्ति भी अवश्य क्षीण होती है, किन्तु अनासक्त कर्मों का प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्म में ही लगी रहती है । जैसे नदी निरन्तर बहती है, वायु बिना थके बहती रहती है, सूर्य सदैव प्रकाश बिखेरता रहता है उसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति सतत कर्म करता रहता है । इस कारण उसका कर्म आसक्त व्यक्ति के कर्म की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है । अपना

कर्म करने में होने वाली तन्मयता आनन्द का अक्षय उत्स बन जाती है। विनोबा उदाहरण देते हुए कहते है—'चित्रकार से कहिए—'चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम चाहे जितने पैसे ले लो', तो वह नहीं मानेगा। किसान से कहिए—'खेत पर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हें दे देंगे।' यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसन्द न करेगा। किसान प्रातः काल खेत पर जाता है। सूर्य नारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते हैं। गाय-बैल उसके आस-पास घिरे रहते हैं। वह प्रेम से उन्हें सहलाता है। जो झाड़-पेड़ लगाये हैं, उनको भर-नजर देखता है। इन सब कामों में एक सात्विक आनन्द है।

कर्मफल से दृष्टि हटाने पर कर्म में सौगुनी तन्मयता बढ़ जाती है। विनोबा के शब्दों में—'फल निरपेक्ष पुरुष की कर्मविषयक तन्मयता समाधि के दर्जे की होती है।' अतः कर्म विषयक कुशलता बढ़ जाती है और बन्धन भी होता नहीं। यही जीवन-कला है। फल त्याग की कसौटी पर कसने से अनेक कर्म तो स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे, जैसे—हिंसा, असत्य, चोरी आदि। इस कसौटी पर निषिद्ध और काम्य कर्म भी त्याज्य हो जाते हैं। विनोबा कहते हैं—'यदि जीवन का फलित प्राप्त करना चाहते है, तो फलत्याग रूपी चिन्तामणि को अपनाएँ। वह आपका पथ, प्रदर्शन करेगा। फल, त्याग का यह तत्व अपनी मर्यादा भी बताता है। यह दीपक निकट होने पर अपने आप यह पता चल जायेगा कि कौन-सा काम करें, कौन-सा न करें और कौन-सा कब बदल डालें। (गीता-प्रवचन, २६२)

यज्ञ-कर्म

कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए फल-त्याग से भी एक ऊँची और उदात्त स्थिति है—कर्मों का ईश्वरार्पण। धर्म ग्रन्थों में इसे ही यज्ञ-कर्म कह कर पुकारा गया है। यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है जिसका अर्थ

है—देवपूजा, संगतिकरण, दान । यज्ञ के तीन लक्षण हैं—सत्कार, सङ्गठन और उपकार । जिस कर्म से सम्मान्य मनुष्यों का आदर, जनता का सङ्गठन और पिछड़ों को उन्नति का अवसर रूप उपकार होता है, वह यज्ञ कहलाता है । भगवान् कृष्ण कहते हैं—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञास्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।

[गीता ४।३१]

अर्थात् 'यज्ञ न करने वाले का लोक-परलोक नष्ट हो जाता है ।' वैदिक ऋषि कहते हैं—अयज्वानः सनकाः प्रेतिमायुः ।

[अ० १।३३।४]

अर्थात् यज्ञ न करने वाले नाश को प्राप्त होते हैं । अथर्ववेद [१२।२।३७] के अनुसार—अयज्ञियो हतवर्चा भवति ।

अर्थात् यज्ञहीन व्यक्ति तेजोहीन होता है । छान्दोग्य उपनिषद् [३।१६।१-७] के अनुसार मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है । महानारायणीय उपनिषद् [२०।१२] में कहा गया है—शरीरं यज्ञः अर्थात् शरीर ही यज्ञ है । बृहदारण्यक उपनिषद् [३।१।१-६] का कथन है—

वाग्वै यज्ञस्य होता । चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः ।
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता । मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।।

(शरीर-यज्ञ में वाणी है होता, चक्षु है अध्वर्यु, प्राण है उद्गाता और मन है ब्रह्मा ।)

यजुर्वेद [१।१] और शतपथ ब्राह्मण [१।७।१।५] के अनुसार 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा यज्ञ है । यज्ञ संग्रह का विरोधी है—भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकरणात् [गीता ३।१३]। यजुर्वेद [४०।१] 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' [त्याग पूर्वक भोग करो] कह कर वैदिक भावना का भाष्य करता है । गीता ने यज्ञ-शेष के भक्षण का बड़ा गुण-कीर्तन किया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

(३।१३)

[यज्ञ-शेष का भक्षण करने वाले समस्त पातकों से मुक्त हो जाते हैं।]

आत्मसमर्पण या ईश्वरार्पण ही यज्ञ की मूल भावना है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४।२४)

शतपथ ब्राह्मण (१३।७।१) में भी इसी यज्ञ का सङ्केत किया गया है। गीता का सिद्धान्त है कि मोक्ष रूपी सिद्धि अपने कर्मों द्वारा प्रभु की आराधना करने से प्राप्त होती है—स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। (१८।४६)

भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म-सम्पादन मोक्ष का राज-मार्ग है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।
(गीता १२।१०)

कर्मों को ईश्वरार्पण कर जो अनासक्त व्यवहार करता है, उसे पाप नहीं छू पाते—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गीता ५।१०)

[ब्रह्म में कर्मों को अर्पित कर जो आसक्ति छोड़कर कर्मानुष्ठान करता है वह उसी प्रकार पाप-लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जल कमल के पत्ते पर नहीं टिकता।]

यज्ञार्थ कर्म न कर दूसरे प्रकार से कर्म करने पर सारा संसार ही कर्मों का जंजाल बन जाता है--यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि प्रकृति की सारी सत्ता और सारा कर्म भगवान् के लिए ही है, भगवान् से ही उसका उद्भव होता है, भगवान् से ही उसकी स्थिति है और भगवान् की ओर ही उसकी गति

है। पर जब तक हम अहं-भाव के अधीन हैं तब तक इस सत्य को नहीं जान सकते, न सत्य के इस भाव के साथ कर्म कर सकते हैं, तब तक हमारा सारा कर्म अहंभाव से, अहंकार की तुष्टि के लिए अर्थात् यज्ञ के विपरीत भाव से (यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र) ही हुआ करता है। यह अहंकार के बन्धन की गाँठ है। अहंकार को छोड़कर भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से यह गाँठ ढीली पड़ जाती है और अन्त में हम मुक्त हो जाते हैं। योगिराज कहते हैं-- जीवन एक यज्ञवेदी है जिस पर प्रकृति अपने सब कर्मों और कर्म-फलों को लाती और उन्हें भगवान् के उस रूप के सामने रखती है जिस रूप तक उसकी चेतना उस समय पहुंच पाई हो। इस यज्ञ से उसी फल की कामना की जाती है जिसे शरीर, मन, प्राण में रहने वाला जीव अपना तात्कालिक या परम श्रेय मानता हो। जहाँ यज्ञ में स्वेच्छा से आहुति नहीं दी जाती वहाँ प्रकृति जबरदस्ती वसूल करती और इस प्रकार अपने जीवन विधान की रक्षा करती है। पारस्परिक आदान-प्रदान जीवन का नियम है जिसके बिना वह एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता और यह तथ्य संसार पर उस भगवान् के सर्जनशील सङ्कल्प की छाप है जिसने संसार को अपनी सत्ता में अभिव्यक्त किया है। यज्ञ का यह विश्वव्यापक विधान इस बात का सुस्पष्ट चिह्न है कि यह संसार ईश्वर का है और ईश्वर का ही इस पर अधिकार है। जीवन उसी का राज्य और अर्चना-मन्दिर है, किसी स्वतन्त्र अहंकार की आत्म-तुष्टि का साधन-क्षेत्र नहीं। अहंकार की पुष्टि हम लोगों के स्थूल और असंस्कृत जीवन का आरम्भ मात्र है, जीवन का परमहेतु तो भगवान् की प्राप्ति, अनन्त देवेश की पूजा और खोज है जिसका साधन निरन्धन बढ़ते रहने वाला यह यज्ञ है जिसकी परिपूर्णता पूर्ण आत्मज्ञान पर प्रतिष्ठित पूर्ण आत्मदान में होती है।'

अहंकार अज्ञान की मुहर-छाप है, इसी के कारण जीव यज्ञ के विधान की उपेक्षा करता है और संसार में सब कुछ अपने लिए ही

बटोरना चाहता है तथा केवल उतना ही देता है जितना प्रकृति अपने भीतर और बाहरी दबाव से दिलवाती है । वह जीवन के वास्तविक अभिप्राय से वञ्चित रह जाता है और चूँकि वह अपने जीवन और कर्मों का उपयोग यज्ञ के द्वारा अपनी सत्ता को उदार, विशाल और उन्नत बनाने में नहीं करता, इसलिए उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है :—

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति (गीता ३।१६)

जीवन के सन्दर्भ में श्री अरविन्द ने यज्ञ की बड़ी उपयुक्त व्याख्या की है । श्री अरविन्द लिखते हैं—'जो माँग हमसे की जाती है वह यही है कि हम अपने सम्पूर्ण जीवन को एक सचेतन यज्ञ का रूप दे दें । हमें अपनी सत्ता के प्रत्येक पल और प्रत्येक गति को सनातन देव के प्रति एक सतत और भक्तयुक्त आत्मदान में परिणित करना होगा । अपने सब कर्मों को, छोटे से छोटे और अत्यन्त साधारण एवं तुच्छ कर्मों को तथा बड़े से बड़े, अत्यन्त असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मों को सभी को एक समान ईश्वरार्पण भाव से करना होगा । हमारी व्यष्टि भावापन्न प्रकृति को एक ऐसी बाह्य तथा आन्तर क्रिया की अखण्ड चेतना में निवास करना होगा जो हम से परे और अहम् से महान् किसी वस्तु के प्रति निवेदित हो । यह कोई महत्व की बात नहीं कि छवि किस वस्तु की है और उसे हम किसको भेंट चढ़ाते हैं, पर भेंट करते समय ऐसी चेतना होनी चाहिए कि सब सत्ताओं में विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ता को ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं ।' आगे महर्षि कहते हैं कि किसी महान् प्रयास में किसी ऊँची साधना में अथवा किसी कठिन या उदात्त पुरुषार्थ में–चाहे उसका बीड़ा हम अपने लिए उठायें या दूसरों के लिए, या राष्ट्र के लिए–' यह नहीं होना चाहिए कि हम अपने, जाति सम्बन्धी धारणा में बँध जायँ । जो कार्य हम कर रहे हैं वह हमें सचेतन भाव से कर्मों के यज्ञ के रूप में अर्पित करना होगा, पर अपने आप को, दूसरों को या जाति को नहीं बल्कि इनके द्वारा या सीधे ही एकमेव देवाधिदेव को अर्पित करना होगा ।

अपने कर्मों की प्रक्रियायें और परिणाम हमें उस एकमेव के हाथों सौंप देने चाहिए, इस भाव से कि वह उपस्थिति अनन्त और परमोच्च है तथा वही हमारे प्रयत्न और इच्छा को सम्भव बनाती है। 'योग-समन्वय' में योगिराज आगे कहते हैं कि उसी की सत्ता में सब कुछ घटित होता है, उसी के लिए प्रकृति हमसे प्रयत्न और इच्छा कराती है और उस सबको फिर उसी की वेदी पर अर्पित कर देती है। जिन कार्यों में अति स्पष्ट रूप से प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रिया के साक्षी, धारक और सहायक मात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामी का ऐसा ही अखण्ड स्मरण और स्थिर ज्ञान रहना चाहिए। हमारे अन्दर हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदय की धड़कन तक को भी सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना होगा ही। उन्हें विश्वव्यापी यज्ञ के जीवित-जागृत, लय-ताल के रूप में अनुभव करना होगा।

मुक्तपुरुष के कर्म

मुक्तपुरुष कर्म से पलायन नहीं करता और निष्क्रियता की शरण लेता है। अरविन्द के अनुसार वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अन्दर उसकी प्रकृति द्वारा कर्म कराती है। उसका कर्म परा शक्ति के सहज प्रवाह के द्वारा विकसित होता है, वह उसी का एक अङ्ग होता है, उसका संकल्प भागवत् संकल्प से एक होता है, उसकी शक्ति भागवत शक्ति होती है। उसके अन्दर की आत्मा इस कर्म को धारण करती है, इसे आश्रय देती है और इसकी देखरेख करती है। वह ज्ञान में इसका अधिष्ठातृत्व करती है पर आसक्ति या आवश्यकता के कारण इससे चिपट नहीं जाती, न इसके साथ बँध ही जाती है, न इसके फल की कामना से आबद्ध होती है और न किसी प्रवृत्ति या आवेग की दासी बनती है।

कर्त्तव्य की उपादेयता

सामान्यत: 'कर्तव्य' पद से जिस कर्म का बोध कराया जाता है वह

एक बाह्य और तुलनात्मक वस्तु है और उसके साथ अधिकार जुड़ा हुआ है । सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि हमें फल का बिना विचार किये करणीय कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । यह विचार आध्यात्मिक कम, नैतिक अधिक है और इसका जन्म यूरोपीय संस्कृति से हुआ है । इन कर्त्तव्यों का अपना एक महत्व है । इनका लाभ यह है कि ये अपरिपक्व नैतिक प्रकृति को साधने और स्वार्थपूर्ण कामना के कर्म को निरुत्साहित करने वाले प्रतिमान की स्थापना करते हैं । आन्तरिक ज्योति पाने से पूर्व ऐसे कर्त्तव्यों का निर्माण और अनुवर्तन मनुष्य को करना ही पड़ता है । अधिकार की भावना क्लेश की जड़ है । अधिकार से स्वार्थ उपजता है और स्वार्थ से कष्टों की सृष्टि होती है । स्वार्थ से आसक्ति पैदा होती है और आसक्ति से स्वाधीनता का विनाश और दासता का आरम्भ होता है । अनासक्ति समस्त साधनाओं का मूल है । इस दृष्टि से कर्तव्य का महत्व स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है । देश-काल-पात्र के भेद से इन कर्त्तव्यों का स्वरूप बदलता रहता है ।

कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने से धीरे-धीरे 'कर्म के लिए ही कर्म' की भावना बलवती हो जाती है और स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—'कर्तव्य-ज्ञान से किया हुआ कर्म ही हमें कर्तव्य-ज्ञान से अतीत कर्म की ओर ले जाता है । और तब कर्म उपासना में परिणत हो जाता है, इतना ही नहीं, वरन् उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है । फिर हमें प्रतीत होगा कि कर्त्तव्य, वह चाहे नीति पर अधिष्ठित हो अथवा प्रेम पर, उसका उद्देश्य वही है जो किसी अन्य योग का—अर्थात् 'कच्चे मैं' को क्रमशः घटाते-घटाते बिल्कुल नष्ट कर देना, जिससे अन्त में 'पक्का मैं' अपनी असली महिमा में प्रकाशित हो जाय, तथा निम्न स्तर में अपनी शक्तियों का क्षय होने से रोकना, जिससे आत्मा अधिकाधिक उच्च भूमि में प्रकाशमान हो सके ।'

मद्रास प्रान्त में रामनाथन् रेलवे में पायण्टमैन था । एक दिन वह पायण्ट पकड़े खड़ा था । दोनों ओर से दो गाड़ियाँ पूरी तेजी से आ

रही थीं। इसी समय एक भयानक सर्प कहीं से आकर उसके पैर में लिपट गया। सर्प को देखकर उसका भयभीत होना स्वाभाविक था। वह सोचने लगा—'मैं साँप हटाने के लिये अगर पायण्ट छोड़ देता हूं, तो गाड़ियाँ लड़ जाती हैं और हजारों नर-नारियों के प्राण जाते हैं, यदि नहीं छोड़ता तो साँप के काटने से मेरे प्राण चले जायेंगे।' क्षणभर में उसने निश्चय किया कि चाहे साँप मुझे डस ले किन्तु मैं कर्तव्य की अवहेलना नहीं करूँगा क्योंकि ऐसा करने से तो हजारों नर-नारियों के प्राणों को खतरा उपस्थिति हो जायगा।' रामनाथन् हिला तक नहीं। उसकी कर्तव्य-निष्ठा ने हजारों लोगों के प्राण बचा लिए। गाड़ियों की भीषण धड़धड़ाहट से डरकर साँप भी उसका पैर छोड़कर भाग गया। अधिकारी लोगों ने उसकी कर्तव्य-निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे पुरस्कृत किया।

पवित्रता पूर्वक अपनी आजीविका के सम्पादन से सत्संस्कार दृढ़ होते हैं, व्यक्ति में निष्कामता आती है और ईश्वर का प्रेम प्राप्त होता है।

काशी में तुलाधार नाम का एक वैश्य हुआ है। वह भगवत् भक्त और सत्यनिष्ठ था। वह पवित्रता पूर्वक व्यापार करता था। उन्हीं दिनों जाजलि नामक एक ब्राह्मण समुद्र तट पर तपस्या में संलग्न था। अपने आहार-विहार को नियमित करके, वस्त्र के स्थान पर वल्कल का उपयोग करते हुए उसने योगसाधन की एक उच्च भूमिका को प्राप्त कर लिया। एक दिन जल में खड़े होकर ध्यान करते समय उन्हें अचानक सृष्टिविषयक ज्ञान हो गया जिससे उनके मन में अहंकार जग गया। तभी आकाशवाणी हुई—'महाशय! आपका यह सोचना अनुचित है। काशी में तुलाधार नाम का एक वैश्य है, वह भी ऐसा नहीं कह सकता फिर आपको तो अभी ज्ञान भी कहाँ हुआ है।' जाजलि तुलाधार का दर्शन करने काशी चल पड़े। तीर्थाटन करते हुए वे काशी पहुंचे।

उन्होंने देखा कि तुलाधार अपनी दूकान पर बैठे हुए व्यापार का काम देख रहे थे। जाजलि को देखते ही वे उठ खड़े हुए और उनका खूब स्वागत सत्कार किया। बाद में तुलाधार विनम्र वाणी में बोले ब्रह्मन्! आपकी तपस्या का मुझे पता है। आपने शीत-उष्ण और वर्षा की परवाह किये बिना केवल वायु का भक्षण करते हुए उग्र तप किया है जब आपको सूखा वृक्ष समझ कर जटाओं में चिड़ियों ने घोंसला बना लिया, अण्डे दिए और उनके बच्चे भी वहीं बड़े हुए तब आपके मन में अहंकार आ गया। आकाशवाणी सुनकर आप यहाँ आये हैं। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूं?'

आश्चर्य चकित जाजलि ने जिज्ञासा की–'आपको ऐसा निर्मल ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ?' तुलाधार ने कहा—अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार कर्तव्य का अनुष्ठान करते हुए जो लोग किसी का अहित नहीं करते, मनसा वाचा कर्मणा सबका हित करते हैं, मिट्टी और सोने में भेद नहीं करते, जिनमें इच्छा, द्वेष और भय नहीं रहता, वे ही सच्चे ज्ञान के अधिकारी होते हैं। इन्हीं बातों का जरा-सा आचरण करने से मुझे यह थोड़ा सा ज्ञान मिला है। इससे जाजलि का अज्ञान नष्ट हुआ और कर्मयोग द्वारा उन्होंने सद्गति पाई।

सिर्फ कर्त्तव्य यथेष्ट नहीं

कर्त्तव्य के ऋण पक्ष पर विचारकों का ध्यान गया है। कर्त्तव्य बुद्धि से कोई कार्य केवल निम्न भूमि में ही किया जाता है। इस भावना से अनेक दुःखों की सृष्टि होती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'कर्त्तव्य हमारे लिए एक प्रकार का रोग-सा हो जाता है और हमें सदा उसी दिशा में खींचता रहता है। यह हमें पक्का जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दुःख पूर्ण कर देता है। यह तो मनुष्य जीवन के लिए महा विभीषिका-स्वरूप है। यह कर्त्तव्य-बुद्धि ग्रीष्मकाल की दोपहरी के सूरज की तरह है जो मनुष्य की अन्तरात्मा को दग्ध कर देती है।

जरा कर्त्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखिए ! उनका कर्त्तव्य तो उन्हें इतनी भी छुट्टी नहीं देता कि वे पूजा-पाठ अथवा स्नान-ध्यान कर सकें। कर्त्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं किन्तु कर्त्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है। वे घर आते हैं और फिर अगले दिन का काम सोचने लगते हैं, कर्त्तव्य उन पर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई। फिर एक दिन ऐसा आ जाता है कि वे कसे-कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिर कर मर जाते हैं। कर्त्तव्य की यही सर्वसाधारण कल्पना है। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त कर्म भगवान् को समर्पण कर देना ही असल में हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है। हमारे समस्त कर्त्तव्य तो उन्हीं के हैं।

हम प्राय: जब कोई आसक्ति दृढ़मूल हो जाती है तो उसे ही कर्त्तव्य कहने लगते हैं। कर्तव्य वहीं तक अच्छा है जहाँ तक कि वह पशुत्व को रोकने में सहायता प्रदान करता है। श्री अरविन्द कहते हैं—'कर्तव्य कर्म बाह्य चीजें हैं, आत्मा की वस्तु नहीं। ये इस पथ में कर्म के चरम आदर्श नहीं हो सकते। सैनिक का कर्तव्य यह है कि जब उसे आह्वान प्राप्त हो, वह युद्ध करे यहां तक कि अपने बन्धु-बान्धवों पर भी गोली चलावे। परन्तु ऐसा या इससे मिलता-जुलता और कोई मानदण्ड मुक्त पुरुष पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, प्रेम या करुणा करना अपनी सत्ता के उच्चतम सत्य का अनुकरण करना और भगवान् के आदेश का पालन करना कोई कर्तव्य नहीं है। ये तो प्रकृति का धर्म बनते जाते हैं।'

शारीरिक अकर्मण्यता की शरण लेने वाला मन अभी इसी भ्रम में पड़ा है कि वह स्वयं कर्मों का कर्त्ता है, प्रकृति नहीं, उसने जड़ता को मोक्ष मान लिया है, वह यह नहीं देख पाता कि जो ईंट-पत्थर से भी अधिक जड़ दिखाई देता है उसमें भी प्रकृति की क्रिया हो रही होती

है, उस पर भी प्रकृति अपना अधिकार अक्षुण्ण रखती है। इसके विपरीत कर्म के पूर्ण प्लावन में भी आत्मा अपने कर्मों से मुक्त है, वह कर्त्ता नहीं है, जो कुछ किया जा रहा है उससे बद्ध नहीं है। अनवरत कर्म के मध्य इस अखण्ड शान्ति की ओर लक्षित करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'आदर्श पुरुष तो वे हैं, जो परम शान्ति और निःस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का, तथा प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शान्ति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं। उन्होंने संयम का रहस्य जान लिया है। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उसका मन उसी प्रकार शान्त रहता है, मानो वह किसी निश्शब्द गुफा में हो, और फिर भी उसका मन सारे समय कर्म में तीव्र रूप से लगा रहता है।'

इस प्रकार कर्मानुष्ठान करते हुए आसक्ति हटा देने भर से आन्तरिक सङ्गीत बजता रहता है, अखण्ड शान्ति व्याप्त रहती है और कोई क्षोभ अन्तस्तल को स्पर्श नहीं कर पाता। यही कर्म-कला है।

कर्म मनुष्य के जीवन का उपादान है और इसके व्यवहार पर ही जीवन की उन्नति–अवनति निर्भर है। इसी से जीवन सार्थक अथवा व्यर्थ बनता है। साधारणतः मनुष्य कर्म को भोग की गुलामी में लगाये रखता है। अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय के शब्दों में, 'वह भोग को बिठाता है पूजा के आसन पर और कर्म को नियुक्त करता है उसकी सेवा में। भोगवासना का दास बन कर मनुष्य सुख भोग को ही जीवन का एकमात्र आदर्श मान बैठता है और जो कर्म सुख-भोग के अनुकूल होते हैं उन्हीं का करना अपना कर्त्तव्य मानता है तथा अपनी सारी शक्ति और स्वतन्त्रता उसी में लगा देता है। अन्न-वस्त्र-घर-धन, इन्द्रियों को सुख पहुंचाने वाली वस्तुएँ, यश-मान-प्रतिष्ठा, राज्य-ऐश्वर्य-प्रभाव प्रतिपत्ति आदि समस्त वस्तुओं को मनुष्य चाहता है केवल सुख के लिए, सुख-भोग की सामग्री के रूप में। इनके लिए होने वाली चेष्टा ही होती है उसके लिए कर्त्तव्य-कर्म, और जिन कर्मों से इस सुख के मार्ग में बाधा

पड़ती है या दुःख उत्पन्न होता हो, उन्हीं को वह निषिद्ध या त्याग करने योग्य कर्म मानता है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में सुख-दुःख ही अच्छे बुरे कर्मों का मानदण्ड है। साधारण नर-नारी कर्म नहीं चाहते-वे चाहते हैं कर्मों का सुखमय फल, कर्म तो उन्हें सुख के लिए बाध्य होकर करने पड़ते हैं।

साधारणतः कर्म वासना के वश होकर ही किया जाता है और वासना ही मनुष्य को दुःखमय संसार में बाँध रखती है किन्तु कर्म को सदैव वासनाओं की गुलामी करनी पड़ेगी, ऐसा कोई अखण्ड नियम नहीं है। भगवान् अनादि काल से सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप कर्म करते हैं—वे क्या वासना के वशीभूत होकर किसी वस्तु के लाभ के लिए अथवा अभाव में पड़ कर कर्म करते हैं ? सच्चे कवि, शिल्पी और गायक जैसे अपने भीतर के आनन्द को —रसानुभूति को भावावेश के साथ छन्द, रूप और सुरों का मूर्त रूप देकर प्रकट करते हैं, भगवान् के विश्व-सृष्टि आदि समस्त कर्म भी उसी तरह उनके स्वरूपभूत नित्यसत्य आनन्द घन पूर्णता बोध से ही स्वच्छ धारा में प्रवाहित होते हैं। कर्म के सुचारु सम्पादन में ही प्राणों के आनन्द का विकास, इसका आस्वादन और कर्मशक्ति की सार्थकता है।

कर्मफल एवं पुनर्जन्म

कर्मफल का सिद्धान्त पुनर्जन्म की मान्यता पर स्थित है। आर्थर शापनहर ने 'परेगा एण्ड पार्ली पोमेना' में लिखा है—'यदि कोई एशिया निवासी मुझसे यूरोप की परिभाषा करने को कहे तो मुझे बाध्य होकर यह उत्तर देना पड़ेगा कि योरप इस अविश्वसनीय भ्रान्ति के भूत से त्रस्त वह भूभाग है जो मनुष्य का निर्माण शून्य में से मानता है तथा वर्तमान जीवन को ही जीवन में प्रथम प्रवेश मानता है।' किन्तु पश्चिम के विचारशील दार्शनिक, साहित्यकार और वैज्ञानिक आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म पर विश्वास व्यक्त करते रहे हैं।

पाइथोगोरस का मत है कि साधुता का पालन करने पर आत्मा का जन्म उच्चतर लोकों में होता है और दुष्कृत आत्माएँ निम्न पशु आदि योनियों में जाती हैं। यदि मनुष्य अनियन्त्रित इन्द्रियों की दासता से मुक्ति पा सके तो वह बुद्धिमान बन जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पा जाता है।' सुकरात के शब्दों में 'मृत्यु 'स्वप्नहीन निद्रा है तथा पुनर्जन्म का द्वार है।' प्लेटो की मान्यता है कामना ही पुनर्जन्म का कारण है। मनुष्य अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर सकता है। यदि उसे जीवन के बन्धनों को काट फेंकना हो तो उसे समस्त भोग-विलासों को तिलाञ्जलि देनी होगी। प्लाटिनस के अनुसार नैतिक गुणों के अनुसार जीवन न बिताने पर मनुष्य मृत्यु के बाद वृक्ष तक बन सकता है। जिसने इस जन्म में अपनी मां की हत्या की है वह अगले जीवन में स्त्री बनेगा और अपने पुत्र द्वारा मारा जायगा।' अपर्यूस का कथन है कि पापमय जीवन बिताने पर आत्मा घोर नरक में जाती है और पुनर्जन्म के बाद उसे मनुष्य, पशु तथा कीड़ों के शरीरों में रहना पड़ता है। पवित्र जीवन विताने पर आत्मा जन्म-मृत्यु-चक्र मुक्त हो जाता है और स्वर्ग पाता है। स्पिनोजा, हर्टली, प्रीस्टले आदि दार्शनिक आत्मा को अमर मानते थे। लेसिंग का कथन है—'प्रत्येक आत्मा पूर्णता लिए यत्नशील है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धरती पर अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।' काण्ट के अनुसार प्रत्येक आत्मा मूल रूप से शाश्वत है।' फिक्टे का विचार है कि मरण आत्माओं के जीवन-प्रवाह में एक विश्राम-स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शेलिङ्ग भी पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। नोवालिस मानते थे कि जीवन है कामना और कर्म हैं उसके परिणाम। जीवन तथा मृत्यु एक ही वस्तु है जिनमें से गुजर कर आत्मा अमरता-लाभ करता है। हेगल का मत है कि सभी आत्माएँ पूर्णता की दिशा में पदार्पण कर रही हैं तथा जीवन और मृत्यु इनकी अवस्थाये हैं।' लीपनिज कहते हैं—'प्रत्येक जीवित वस्तु अविनाशी है, उसके ह्रास और अन्तरावर्तन का नाम मौत है और उसकी वृद्धि तथा

विकास का नाम ही जीवन है। बर्कले. मैक्टेगार्ट, हिल्स्प, बोसांके आदि दार्शनिकों के मत में आत्मा अक्षर और अविनाशी है।

एमर्सन (R.w. Emerson) लिखते हैं—

If The red slayer thinks he slays,
Or if the slain thinks he is slain,
They know not well the subtle ways,
I keep and pass and turn again.

[यदि मृत्यु यह सोचे कि वह आत्मा का विनाश कर रही है और आत्मा यह सोचे कि मृत्यु के द्वारा उसका नाश हो रहा है तो दोनों ही उस सूक्ष्म तत्त्व ज्ञान से वंचित हैं जिसके अनुसार आत्मा स्थित रहती एवं आवागमन के चक्र में घूमती है।]

ड्राइडन आत्मा की अमरता में अविचल आस्था व्यक्त करते हैं—

Death has no power the immortal Soul to slay
That when its present body turns to slay,
Seeks a fresh home, and with unleesened night
Inspires another frnme with Life and Light.

[मौत में इतनी शक्ति नहीं कि अमर आत्मा का खात्मा कर सके। मौत जब आत्मा के वर्तमान शरीर का विनाश करने चलती है तो आत्मा अपनी अक्षुण्ण शक्ति से नया घर खोज निकालती और दूसरे शरीर को प्राण और प्रकाश से परिपूर्ण कर देती है।]

वर्ड्स्वर्थ का कथन है—

The soul that rises with us, owr life's star
Hath had elsewhere its setting
And comes from a far.

[हमारे साथ, हमारे जीवन के नक्षत्र के साथ उदित होने वाली आत्मा का उद्‌भव अन्यत्र है और वह सुदूर से आयी है।]

टेनीसन कहते हैं—

Or if through lower lives I came
Tho' all experience past became
Consolidate mind and frame

I might forget my weaker lot
For is not our fir t year forgot ?
The haunting af memory echo not.

अर्थात् 'यदि मेरे पिछले जन्म निम्न स्तर के हैं और मेरे मस्तिष्क में इन जन्मों के अनुभव एकत्र हो गये हैं तो भी मैं अपने दुर्भाग्य को भूल सकता हूं। इसका कारण यह है कि हम अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों को भूल जाया करते हैं। पुरानी स्मृतियाँ हमारे कानों में नहीं गूँजती है।'

वाल्ट ह्विटमन के उद्‌गार हैं—

As to you, life, I reck on you are
the leavings of many deaths
No doubt I have died myself ten
thousand times before.

[जीवन ! तुम मेरी अनेक मृत्युओं के अवशेष हो। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इसके पूर्व मैं दसियों हजार बार मर चुका हूं।]

सर विलियम क्रुक्स, मावर्ज, फ्रेंकपोडमोर, अल्फ्रेड वालेस, प्रो० आक्साक्फ, रिचर्ड हजसन आदि वैज्ञानिकों ने मरणोत्तर जीवन में विश्वास प्रकट किया है। सर लाज ने सितम्बर १६१३ में भाषण देते हुए कहा था—'शारीरिक मृत्यु के बाद भी व्यक्तित्व विद्यमान रहता है।' डा० हजसन का कथन है कि 'आज जो कोई भी प्रेततत्त्व को अस्वीकार करता है, वह मूर्ख है।'

ईसाइयों में नास्टीसिज्म सम्प्रदाय के लोग आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में दृढ़विश्वास रखते थे। साइमेनिस्ट, बेसीलियन, वैलेण्टीनियन माशीनिस्ट, मैनीचियन आदि ईसाई सम्प्रदाय भी जन्मान्तर को स्वीकार करते थे।

कर्मवाद यह स्वीकार नहीं करता कि हमारा कभी अभाव था और होगा। प्रो० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी कहते हैं कि यदि बर्तमान जन्म

को ही जीवन में प्रथम और अन्तिम प्रवेश मान लिया जाय तो हमारी चेतना परिमित हो जाती है। परन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि एक आध्यात्मिक तथा बुद्धिजीवी प्राणी होने के नाते मनुष्य को अपनी सीमाओं का अतिक्रमण अवश्य करना चाहिए क्योंकि अतिक्रमण में ही उसकी सच्ची महत्ता है। ईश्वरीय चेतना हमारे भीतर के विश्व चैतन्य की सहायक है। उपनिषद् का कथन है—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' ईश्वर की सर्वव्यापकता की यह धारणा एक वैश्विक चेतना प्रदान करती है जो इस पूर्वमान्य कल्पना के साथ आगे बढ़ती है कि व्यक्तियों के रूप में हमारे इस वर्तमान भौतिक प्राकट्य के पूर्व भी हमारा अस्तित्व था। प्रो० बनर्जी लिखते हैं—'हमारे जन्म को एक आकस्मिक घटनामात्र मानने वाली धारणा से अपने आपको उन्मुक्त करना एक बौद्धिक आवश्यकता है। इसी कारण से अनेक अस्तित्वों की आधारभूत धारणा का यह सिद्धान्त कि 'आत्मा एक नियम के अनुसार अपने आप को अभिव्यक्त करता है' हमारी विचारशक्ति को बहुत जँच जाता है। यदि हमारे पूर्वजन्मों के हमारे अपने किये हुए कर्मों से ही हमारे वर्तमान जन्म की स्थितियों का निर्धारण होता है तो यह हमारे दुर्भाग्यजनित दुःख से हमारा त्राण कर देता है तथा हमारे प्रत्यक्षतः अकारण सौभाग्य का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत करता है। हम वहीं हैं, जहाँ हम हैं और हम जो कुछ हैं, वह केवल इसलिए हैं, क्योंकि हमारे विकास के लिए ऐसी ही स्थितियों की आवश्यकता है और गत कर्मों के फलाफल का निपटारा करने के लिए भी यही आवश्यक है।'

प्रत्येक आत्मा में पूर्णता का सामर्थ्य है और वह क्रमशः अपनी शक्तियों को उन्मुक्त कर रही है। इस प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में आत्मा उन अनुभवों का संकलन कर रही है जो उसके पूर्ण विकास के लिए आवश्यक और अस्थायी हैं। पुनर्जन्म में मनुष्य उस स्थान से पुनः चलना प्रारम्भ करेगा जहाँ तक वह अपनी पूर्व मृत्यु के पहले पहुंच

चुका था और प्रगति के इस तार के बिना टूटे वह आगे बढ़ता रहेगा।

सर हेनरी जोन्स अमरत्व के निषेध का अर्थ पूर्ण नास्तिकता मानते हैं क्योंकि उसे स्वीकार करके ही पूर्ण ब्रह्म में और उसकी सुसूत्र, एव सार्थक रचना में विश्वास किया जा सकता है. 'The Idea of Immortality' में प्रिंगल पैटिसन लिखते हैं—'यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि मृत्युविषयक चिन्तन ने ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाया है। उसके दर्शन, धर्म तथा काव्य के मूल में मृत्यु तथा उसे अन्तिम सत्य न मानने की प्रेरणा ही निहित है।'

श्रीराम माधव चिंगले के अनुसार पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म न मानने का अर्थ यह होता है कि हमारा वर्तमान जन्म आ स्मिक है। वह यदृच्छा से, बिना किसी कारण के और बिना किसी उद्देश्य के होता है और यदृच्छा से, बिना किसी कारण और उद्देश्य के ही उसका अन्त होता है, मानो यहाँ कार्य-कारणभाव ने विराम पा लिया हो किन्तु यह विश्व सुसम्बद्ध, सुव्यवस्थित अतएव कार्य-कारणभाव से बद्ध है, यादृच्छिक नहीं है।



वेदों में कर्मयोग

वेदों के अनुसार कर्मयोग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान योग। अविनाश चन्द्र वसु के अनुसार परवर्ती धार्मिक साहित्य में कर्म को निरर्थक अथवा अनिवार्य बुराई मानने की प्रवृत्ति दिखाई देती है किन्तु वेदों में कर्म को जीवन के महत्वपूर्ण भाग के रूप में स्वीकार किया गया है। कर्म योग का आशय पहले तो यह है कि हम इस भौतिक जगत् में अपने अस्तित्व की वास्तविकता को मानें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हम शरीर-निर्माण, बुद्धि की तेजस्विता और शक्ति तथा स्वास्थ्य से समन्वित परिपूर्ण जीवन एवम् जीवन के आनन्द

की ओर उन्मुख होंगे । दूसरी बात यह है कि कर्म योग जीवन को संग्राम मानता है तथा विजिगीषा एवम् जिजीविषा के साथ उसे लड़ने में प्रवृत्त होता है । वेद के मत में जीवन का अर्थ केवल जैविक अस्तित्व नहीं अपितु नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन भी है । जीवन-संग्राम का आशय सत् एवं असत् के बीच चलने वाले सतत् संघर्ष से है जिसके लिए मनुष्य के भीतर की श्रेष्ठतम शक्तियों और शौर्य का आह्वान किया गया है । इस प्रकार वैदिक कर्मयोग क्षात्रवृत्ति और जीवन के प्रति युयुत्सा पर आधारित है । अतः कर्मयोगी की प्रार्थना स्वास्थ्य और शक्ति, परिपूर्ण शरीर और अदीन जीवन, पार्थिव सद्भोग और सभी प्रकार की बुराइयों पर विजय के लिए है ।

दीर्घ जीवन

वैदिक ऋषि जीवन को अभिशाप या गर्हित वस्तु नहीं मानता न ही वह मरण का अकारण वरण करने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ता है । आत्म-क्षय तथा आत्मपीडन में उसका विश्वास नहीं । वह सौ शरदों के सौन्दर्य को निर्निमेष नेत्रों से पीना चाहता है और सविता के रूप का दर्शन करते हुए सौ शरद् जीना चाहता है—

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ।।

(ऋ० ७।६६।१६)

यजुर्वेद (३६-२४) का ऋषि येन केन प्रकारेण, जीवितमृत की भाँति, कमर झुकाये या शय्या पर रोगों से आक्रान्त होकर लम्बी आयु की कामना नहीं करता अपितु :—

शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतं,
भूयश्च शरदः शतात् ।

'हमारी श्रवण-शक्ति सौ शरदों तक अक्षीण हो, हमारी वाक्शक्ति सौ वर्ष तक अक्षुण्ण रहे, हम सौ साल तक दीन न हों और सौ शरद् से भी अधिक आयु भोगें।'

यही नहीं अथर्ववेद (१६।६७) का ऋषि तो सौ साल और उससे भी आगे ज्ञान की खोज तथा आत्म-विकास का वर मांगता है। वह भुजाओं में बल, पैरों में दृढ़ता, काले बाल और स्वस्थ दाँतों का इच्छुक है (१६।६०)। प्रण आयूंषि तारिषत् (ऋ० १०।१८६।१) कह कर आयु लम्बी होने की प्रार्थना वायुदेव से की गई है। वह यह नहीं चाहता कि गतिशील जीवन का सूत्र कहीं बीच में टूट जाय (ऋ० १।८६।६) त्रिनेत्र रुद्र परिपक्व आयु में ही उसे मर्त्य जीवन से मुक्त कर अमरता की ओर अग्रसर करें—मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् (ऋ० ७।२६।१२)।

पराक्रम और स्वाधीनता

वैदिक ऋषि जीवन के लिए स्वाधीनता चाहता है—उरुणो यन्धि जीवसे। (ऋ० ८।६८।१२) वह स्वतन्त्रता का वर माँगता है—उरु नः कृणोत (ऋ० १०।१२८।५)। इन्द्र के प्रति प्रार्थना में वैदिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र आ जाता है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि
चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां

स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् (ऋ० २।२१।६) 'स्वामिन्! हमें श्रेष्ठ धन दीजिए, तीव्र मेधा दीजिए और दीजिए आध्यात्मिक तेज। हमें आर्थिक समृद्धि, शारीरिक आरोग्य, वाङ्माधुर्य और सुदिन दीजिए।'

वह केवल 'बलं धेहि तनूषु नो' (ऋ० ३।५३।१८) अर्थात् 'हमारे शरीरों में बल का आधान करो' से ही तृप्त नहीं है अपितु मानसिक और आत्मिक गुणों की आकांक्षा भी करता है। उसने मानवीय पराक्रम

(ऋ० १०।१४८।४) का मूल्य समझा है—'ओ इन्द्र ! हर युद्ध में हमारी देह मानवीय शक्ति से परिपूर्व हो । शक्तिमन् ! हमें सर्व-विजयिनी शक्ति दो—

एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् । (साम० २।३।१)

इस प्रकार वैदिक ऋषि का हृदय आशावाद से परिपूर्ण है, निवृत्ति का रुग्ण आग्रह उसमें नहीं । वह इस लोक को पूरा महत्व देता है और मानव जन्म का समुचित मूल्यांकन करता है—

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथा । (अ० ५।३०।१७)

'यह मानव देह अपराजित, कर्म्मफल भोगने का साधन है, अतः देवता भी इसे बहुत चाहते हैं । मृत्यु के निश्चय के साथ ही यहाँ तू उत्पन्न हुआ है फिर भी वृद्ध वस्था से पूर्व तू मृत्यु की कामना न कर ।'

सतत् कर्म

ऋषि को जीवन से पलायन अभिप्रेत नहीं । वह कर्म का सतत् अनुष्ठान करने का आग्रह करता है क्योंकि इससे ही लोक का ताना-बाना बुना जाता है, पर कर्म करते हुए केवल प्रकाश पथ का अनुसरण ही उचित है न कि अन्धकार और असत् के मार्ग का अनुवर्तन । ऋषि आह्वान करता है कि स्वयं भी मनुष्य बनो और दूसरों को भी मानवता की दीक्षा दो—

तन्तुन्तन्वन् रजसो भानुमन्विहि
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियाकृतान् ।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ऋ० १०।५३।६

'संसार का ताना-बाना बुनते हुए. बुद्धिमत्तापूर्ण प्रकाशमय मार्ग

का अनुवर्तन करो, कर्मयोगियों के कर्म को बढ़ाओ, मनुष्य बनो और मनुष्यों को दिव्य बनाओ।'

वेद की मान्यता है कि उन्नति प्रत्येक प्राणी का अधिकार है—

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।

(अ० ५।३०।७)

[ऊपर चढ़ना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है।]

मनुष्य को आत्मविकास के सम्बन्ध में कभी सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिये। पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर उत्थान की चेष्टा करनी चाहिए। पुरुषार्थी को ही श्री अलंकृत करती है, उद्यमी को मृत्यु-पाश से मुक्ति मिलती है—

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्थाः
मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः। (अ० ८।१।४)

'ऐ पुरुष ! ऊपर उठो, नीचे मत गिरो और मृत्यु के पाश को तोड़ते हुए आगे बढ़ो।'

मनुष्य की रचना ही उत्थान के लिए हुई है न कि पतन के लिए— उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अ० ८।१।६) कष्टों से डर कर रुक नहीं जाना चाहिए, कष्टों को सहना तो तप है। कष्ट हमारे सबसे बड़े शिक्षक हैं जो हममें दृढ़ता, सहिष्णुता और आगे बढ़ने की उत्कट चाह उत्पन्न करते हैं। कष्टों की अग्नि में ही व्यक्तित्व का सुवर्ण निखरता है जीवन को सार्थक बनाना चाहिए—धातरायूंषि कल्पयैषाम्।

(ऋ० १०।१८।५)

अभय

कर्मयोग अभय में प्रतिष्ठित करता है। वेद कहता है कि द्यावा और पृथिवी में कहीं भय का कोई हेतु न हो, दिशा-प्रदिशाएं भीतिशून्य हों, हम निर्भीक हों—

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां
शिवे मे द्यावा पृथिवी अभूताम्।

असपत्ना: प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ।।
(अथर्व० १९।१४।१)

ईश्वर को सख्य होने पर कोई भय नहीं रहता। ऋषि कहते हैं— 'शक्तिमन् इन्द्र ! आप से मित्रता होने के कारण हम निर्भीक हैं। स्तुतियों द्वारा आप जैसे जगद्विजेता की कीर्ति का विस्तार हम करते हैं। (ऋ० १।११।२) ऋषि का वचन है—

अभयं द्यावा-पृथिवी इहास्तुनो
अभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं
सप्तऋषिणां च हविषाभयं नो अस्तु ।।
(अथर्व० ६।४०।१)

'द्यौ और पृथिवी से हम अभय हों, हमें चन्द्रमा और सूर्य अभय प्रदान करें, अन्तरिक्ष हमें अभय दे, इन्द्रिय-भोगों से हमें कोई भय न हो।'

ऋषि प्राण को सम्बोधित करते हुए कहता है —

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो नरिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा विभेः । (अथर्व० २।१५।१)

'जिस प्रकार पृथिवी-अन्तरिक्ष न भयभीत करते हैं और न डरते हैं, उसी प्रकार ऐ प्राण तुम डरो मत।'

सतत् जागरूकता

तन्द्रा से कर्मयोग की शत्रुता है। आलसी को श्रेयस् की प्राप्ति नहीं होती, समस्त सम्पत्तियाँ उससे रूठ जाती हैं, बुद्धि मन्द हो जाती है, आलस्य से बढ़कर प्रगति का कोई विघ्न नहीं। वेद कहता है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।

यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्यौकाः ॥
(ऋ० ५।४४।१४)

'जो जागता है उसे ऋचाएं चाहती हैं, जो जागता है उसे साम मिलते हैं, जो जागता है उसके समीप पहुंच कर सोम कहता है--मैं तुझ से मित्रता करता हूं।'

देवता तन्द्रावान् का परित्याग कर देते हैं—न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। (ऋ० ८।२।१८) वे पुरुषार्थी के मित्र बनते हैं—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० ४।३३।११) कर्मयोगी निरन्तर जागरूक रहता है, अपने भीतर तन्द्रा और आलस्य को सेंध नहीं लगाने देता क्योंकि वह जानता है कि आलसी देवताओं का कोप-भाजन होता है और उद्योगी देवताओं का कृपा पात्र।

स्वराज्य

वैदिक कर्मयोगी स्वराज्य का उपासक होता है- यतेमहि स्वराज्ये (अ० ५।६६।६)। वेद कहता है—आगे बढ़ो, बहादुर बनो और जंग छेड़ो, तुम्हारा बज्र अपराजेय है, मर्द बनो और स्वराज्यद्रोहियों का वध करते हुए स्वराज्य की अर्चना करो—

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवोहनो वृत्रं जया
अपोऽचन्ननु स्वराज्यम्। (ऋ० १।८०।३)

स्वराज्य का शत्रु अकर्मा, अन्यव्रत, अमानुष दस्यु होता है, उसका बध ही अभीष्ट है—

अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् बज्र दासस्य दम्भय ॥
(ऋ० १०।२२।८)

कर्मयोगी राष्ट्र को जगाता है--वयं राष्ट्रे जागृयाम (यजु ९।२३)

दान और अपरिग्रह

कर्मयोगी सैकड़ों हाथों से कमाता और हजारों हाथों से दान करता है-

शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर । कर्मयोगी का धन अमृत है क्योंकि वह सारे (ऋ० ३।२४।५) समाज के लिए है । कर्मयोग संग्रह नहीं करता और न अकेला भोग करता है क्योंकि वह जानता है कि अकेला खाने वाला पापी होता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखाय
केवलाघो भवति केवलादी ॥
(ऋ० १०।११७।६)

'भोगी की सम्पत्ति व्यर्थ है, सच कहता हूं कि वह उसकी मौत है । जो सम्पत्तियों से माननीयों और सुहृदों का पोषण नहीं करता उसका धन निष्फल है । अकेला उपभोग करने वाला सिर्फ पाप का ही भाजन होता है ।'

कर्मयोगी जानता है कि दान करने से धन कम नहीं होता बढ़ता है—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्
युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते । (ऋ० १०।११७।१)

'दानी का धन क्षीण नहीं होता और अदाता को सुखस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती ।'

ऋषि दध्यङ् ने प्राणों की भी परवाह न कर अश्विनीकुमारों को विद्या-दान किया । कर्मयोगी परोपकार के लिए अपने हिताहित का विचार नहीं करते । एक वैदिक आख्यान है कि दीर्घजिह्वी नाम की एक राक्षसी उन्मत्त होकर ऋषियों के यज्ञों को अपवित्र करने की चेष्टाएँ करने लगी । सभी तपस्वी देवराज इन्द्र के समीप पहुंचे और अपनी विपद् सुनाई ।

इन्द्र ने कहा, 'भाइयो, एक विलक्षण वर इसे प्राप्त है । जिसने

कभी किसी को जरा-सी भी पीड़ा न पहुंचाई हो और सबका मित्र हो, वही इसे मार सकता है ? बताइये, है कोई आप लोगों में ?'

सभी एक दूसरे की ओर देखने लगे।

इन्द्र ने कहा—'घबराइये नहीं । मैं ऐसा व्यक्ति जानता हूं और वह है ऋषि कुत्स । हम सब उन्हीं के पास चलें । इन्द्र सहित सभी लोग ऋषि कुत्स के पास पहुंचे । ऋषि ने समागत अतिथियों का यथायोग्य स्वागत किया । देवराज ने कहा—

'ऋषे ! आज आपको समस्त मानवों का संकट दूर करने के लिए एक अकार्य करना पड़ेगा। मैं जानता हूं कि आपने शरीर से ही नहीं वाणी और मन से भी हिंसा नहीं की है । किन्तु आज आपको दीर्घ-जिह्वी राक्षसी का लोकोपकार के लिए वध करना होगा । इसी निमित्त हम सब आपसे प्रार्थना करने आये हैं ।'

इन्द्र को विश्वास न था कि ऋषि कुत्स इसे कभी स्वीकार करेंगे किन्तु वे कोरे ऋषि ही नहीं, साधु भी थे । ऋषि ने तत्काल कहा, 'दीजिये कोई शस्त्र । अभी काम तमाम किए देता हूं ।'

सभी अवाक् रह गये । ऋषि कुत्स ने राक्षसी को खोज निकाला और वज्र के सामान्य प्रहार से उसका काम तमाम कर दिया । अग्नि ने उनका सारा पाप भस्म कर उन्हें निष्कलंक कर दिया ।

सम्पत्ति उपकार से ही सार्थक होती है । जगद्गुरु शंकराचार्य कहते हैं—'दानं समविभागः ।' हम प्रत्येक वस्तु को बाँट कर खायें तो उनका स्वाद ही निराला होता है । ईशावस्योपनिषद् के इस कथन का कि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' यही आशय है कि हम धन का स्वार्थ के लिए संग्रह न करें, परिग्रह से बचें और त्याग करते हुए धन को अपने काम में लायें, धन को दीन-दुखियों पर व्यय करें, जो बच रहे उसे अपने काम में लायें । यही यज्ञ-शेष की वास्तविक भावना है । वेद का यही मूल मन्तव्य है ।

सङ्गठित समाज

वैदिक कर्मयोग व्यक्तिगत जीवन की चहार दीवारी तक सीमित होकर बैठ रहना नहीं सिखाता वरन् उदात्त सामाजिक जीवन जीने का मार्ग भी निर्दिष्ट करता है। सामाजिक जीवन को निर्बाध और परिष्कृत बनाने के लिए सिर्फ एक व्यक्ति का आदर्श जीवन ही पर्याप्त नहीं है—अपितु उसके लिए सत्पुरुषों के सुदृढ़ सङ्गठन की आवश्यकता है—सामूहिक जीवन के सत्सङ्कल्प की अपेक्षा है। इसलिए वेद सङ्गमन और सम्वाद को महत्वपूर्ण मानता है। सङ्गमन और सम्वाद में स्थायित्व तब आता है जब समान लक्ष्य लेकर चलने वाले व्यक्तियों के हृदय एकता के सूत्र में अनुस्यूत हों। सामाजिक जीवन के इन त्रिरत्नों की ओर संकेत करते हुए भगवती श्रुति कहती है कि संघशक्ति की उपासना करो।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ० १।१९१।२)

आप सङ्गमन और सम्वाद करें तथा सभी के मन एक हों। जिस प्रकार देवता संगमन, सम्वाद और संज्ञान का आश्रय लेकर अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, वैसा ही आप सब करें।'

प्रेरक आदर्श

कार्यकर्त्ताओं में एक मन्त्र, एक सङ्कल्प या एक आदर्श का होना नितान्त आवश्यक है। समान आदर्श में निष्ठा रखने वाले लोगों द्वारा सङ्गठन का निर्माण करने से शक्ति बढ़ती है किन्तु सङ्गठन के समस्त घटकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई वर्ग या कार्यकर्ता ऐसी सुविधा न ले जो सबको प्राप्त नहीं क्योंकि ऐसा करने से लोगों के मन में भेद उत्पन्न हो जाता है। समस्त सदस्यों और कार्यकर्ताओं के बीच ध्येय और आदर्श का प्रेरक वातावरण रहना चाहिए :—

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः ।
समानेन वो हविषा जुहोमि ।। (ऋ० १०।१९१।३)

आप सभी का मन्त्र समान हो, परिपुष्ट एकता हो, सबका मन परस्परानुकूल और समान हो । मैं तुम्हें वह समान मन्त्र और समान छवि (जीवन-सामग्री) प्रदान करता हूं ।'

सभी घटकों के हृदयों और सङ्कल्पों में सङ्गति, समानता और एकतानता रहनी नितान्त आवश्यक है क्योंकि संघशक्ति का वास्तविक प्रादुर्भाव इन्हीं से होता है । अगले मन्त्र में वेद कहता है—

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ।।
(ऋ० १०।१९१।४)

धर्म की ध्वजा को संगठित वीर ही आगे लेकर चलते है--ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् । (ऋ० ३।८।८) यह ध्वजा समस्त विश्व को सनातन आर्यत्व का सन्देश देती है, प्राणिमात्र को अभय प्रदान करती हुई असत् से सत्, तमस् से प्रकाश और मरण से अमरता की ओर प्रेरित करती है । यह न रङ्ग का भेद करती है न वर्ण या देश का ही । इसका दिव्य सन्देश सभी के लिए है ।

कर्मयोगी की ध्वजा दूसरों के अधिकारों का हनन करने, स्वत्व हड़पने या दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं है, वह तो ज्ञान, प्रकाश और सदाचार का प्रतीक है--

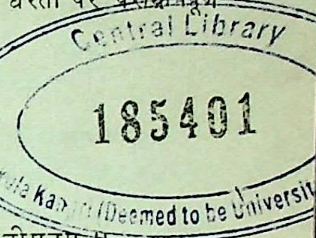
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ।। (ऋ० १।६।३)

'ऐ कर्मयोगी, अज्ञानी के लिए ज्ञान, रूपहीन के लिए सौन्दर्य प्रदान करता हुआ तू उषाओं की तरह कीर्ति प्राप्त कर ।'

इस प्रकार वैदिक कर्मयोग जीवन के प्रति एक स्वस्थ, सन्तुलित और समन्वित दृष्टि पर आधारित है । उसमें न प्रवृत्तिवाद का आग्रह

है और न निवृत्तिवाद का, वरन् दोनों के बीच उत्तम सन्तुलन और समन्वय बनाये रखने का विधान है। उसमें कर्म की समुचित प्रेरणा है और कर्मपथ के पथिक के लिए सङ्गठन, स्वार्थ, त्याग और अभय का मन्त्र।

वैदिक ऋषि इहलोक को तिलाञ्जलि देकर परलोक की उपासना नहीं करते अपितु सजला, सफला, शस्य-श्यामला धरती पर पराक्रमपूर्ण तेजस्वी और अकुतोभय जीवन चाहते हैं :--



गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो
ऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्ण रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ता-
मजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

(अथर्व० १२।१।११)

'हे भूमि! तुम्हारी पहाड़ियाँ, बर्फ लदे पर्वत और वन प्रदेश सुखकारक हों, इन्द्र द्वारा विभिन्न रङ्गों वाली इस धरती की निरन्तर रक्षा हो और इस पृथिवी पर मैं अजेय, अनाहत तथा अनामय होकर विचरूं।'

सर्वधर्म समभाव

वैदिक भूमि विविध भाषा-भाषी, नाना धर्मा व्यक्तियों की आवास-स्थली है न कि वह किसी भाषा-विशेष और धर्म विशेष के लोगों की पैतृक निधि। इसलिए वेद सभी के संयोजन और समन्वय में विश्वास करता है और इस विविधता का उचित पोषण करता हुआ हर किसी को उसकी परिस्थति, संस्कार और क्षमता के अनुसार जीवन में विकसित होने का अवसर प्रदान करता है। राष्ट्र के सामूहिक विकास में सभी का योग रहता है। सब धर्मों के लोगों में सौहार्द रहने पर धरती सहस्र धाराओं से समृद्धि की भागीरथी प्रवाहित करती है और धर्म-द्वेष

रहने पर समृद्ध राष्ट्र भी विनष्ट हो जाता है। इसलिए वैदिक ऋषि सब धर्मों में समस्वरता, आन्तरिक अनुकूलता और सहिष्णुता का सन्देश देता है :—

जानं बिभ्रती बहुधा विवाचसं।
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुर नपस्फुरन्ती ॥

(अथर्व० १२।१।४५)

राष्ट्रीय समाज के सम्बन्ध में वेद की धारणा अस्पष्ट, गोलमोल और अविकसित नहीं है। ब्रह्म वर्चसी ब्राह्मण, महारथी क्षत्रिय, दुधारु गौएँ, भारवाही बैल, सुभग नारियाँ, विजयशील यजमान पुत्र-इन सबसे उसके समाज की रचना हुई है। ब्राह्मण ज्ञान-शक्ति, क्षत्रिय क्षात्र शक्ति और वैश्य धन-सम्पत्ति से इस समाज का संरक्षण-सम्वर्द्धन करता है, शूद्र शारीरिक श्रम और कला-कौशल से उसे समृद्धि की ओर ले जाता है :—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु।
रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु
मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ (यजु० १८।४८)

ऋषि अपने लिए दैवी तेज माँगने से पूर्व अपने समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिए आध्यात्मिक तेज की याचना करता है और सामाजिक हितों को वैयक्तिक हितों की अपेक्षा वरीयता देता है। ऋषि सम्पूर्ण राष्ट्र के योगक्षेम के सम्बन्ध में कहता है :—

आ ब्रह्मन्
ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी

महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान्
आशु सप्तिः
पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे निकामे नः पर्जन्योवर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां
योगक्षेमो नः कल्पताम् । (यजु० २२।२२)

'हे ब्रह्मन् ! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मवर्चस्वी हों, क्षत्रिय शूर और रणकुशल हों, गौएँ खूब दूध दें, बैल रथ खींचने वाले, घोड़े, भारवाही और स्त्रियाँ अति विदुषी हों, इस यजनशील नागरिक की सन्तानें जयशील, रथ सञ्चालन में कुशल, सङ्गठन में प्रवीण, तरुण और वीर हों। आवश्यकता होने पर बादल वर्षा करे, औषधियाँ फल वाली हों। हमारा योगक्षेम अबाधित बना रहे।'

———

गीता में कर्मयोग

गीता—विश्वमानवता की पथ प्रदर्शक

विश्व साहित्य में गीता का अनुपम स्थान है। इसे बिना किसी संकोच के भारतीय तत्त्वदर्शन का चूडान्त निदर्शन कहा जा सकता है। न केवल दर्शन अपितु व्यावहारिक जीवन में भी पद-पद पर गीता से प्रकाश मिलता है। इसी कारण इसे जीवन की व्याख्या भी कहा गया है। गीता जीवन का सङ्गीत है, संघर्ष की रागिनी है, भौतिकता के मृगजल से छले हुए और कामनाओं की लू-लपट में झूलसे हुए धरा-धाम

पर स्वर्गिक ज्योति का अवतरण है । गीता ज्ञान का महोदधि, भक्ति का सुधाकर और कर्म की यमुना है । गीता लीलापुरुषोत्तम नारायण गुरु की वाङ्मयी प्रतिमा है ।

यूरोपीय दार्शनिक थोरो कहते हैं: —'पुराने जमाने की स्मरणीय चीजों में गीता से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं । उसमें इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके वक्ता-देवता को हुए असंख्य वर्ष बीत गये फिर भी उस जैसी एक भी पुस्तक अब तक नहीं रची गयी । गीता की तुलना में समस्त आधुनिक ज्ञान नगण्य है । मैं प्रतिदिन प्रातः काल अपने हृदय तथा बुद्धि को गीता के पवित्र मानसरोवर में स्नान कराता हूं ।' अर्नाल्ड के शब्दों में 'भारत के इस सर्वप्रिय काव्यमय दर्शन ग्रन्थ के बिना अँग्रेजी साहित्य निश्चय ही अपूर्ण रहेगा । टी. एस. इलियट इसे मानव साहित्य की मूल्यवान् सम्पत्ति मानते हैं और हम्बोल्ट के अनुसार यह किसी भी भाषा में सम्भवतः एक मात्र वास्तविक दार्शनिक काव्य और सुन्दरतम ग्रन्थ है ।' प्रोफेसर मैकेन्जी कहते हैं कि गीता में जिस औपनिषद् ज्ञान की विवेचना है वही जन-मन में श्रद्धा और विश्वास के अंकुर उत्पन्न कर मानवता को शाश्वत शान्ति प्रदान करने में सक्षम है । सर जॉन वुडरफ को गीता के प्रचार-प्रसार में विशेष रुचि थी । फरक्यू हर ने लिखा है—'जगत् के समग्र साहित्य में सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से भगवद्गीता के जोड़ का कोई भी अन्य काव्य नहीं । डाक्टर बीसेण्ट के मत में गीता कोई साधारण सङ्गीत अथवा ग्रन्थ नहीं । श्री ब्रुक्स का अभिमत है कि भगवद्गीता भारत के विभिन्न मतों को मिलाने वाली रज्जु और राष्ट्रीय जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है । भारत-वर्ष का राष्ट्रीय धर्म ग्रन्थ बनने के लिए जिन-जिन तत्त्वों की आवश्य-कता है, वे सब गीता में मिलते हैं । यही नहीं, सबसे बढ़ कर वह आगामी विश्व-धर्म का धर्म ग्रन्थ है । भारत के प्रकाशपूर्ण अतीत का यह महादान मनुष्य जाति के और भी उज्ज्वल भविष्य का निर्माता है ।' श्लीगल विधाता को धन्यवाद देते हुए कहते हैं—'ससार में जितने भी

ग्रन्थ हैं उनमें गीता-जैसे सूक्ष्म और उन्नत विचार नहीं मिलते। जिस समय मैंने इसे पढ़ा उस समय मैं विधाता सदैव के लिए ऋणी बन गया कि उन्होंने मुझको इस ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करने करने के लिए जीवित रखा। डा० लियोनेल डी० बैरेट ने इस दिव्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है—'प्रभु की ओर आत्मा को अग्रसर करने में यह पुस्तक बहुत आशाजनक सिद्ध हुई है।'

डा० (श्रीमती) एल्जे ल्यूडर्स के कवित्वपूर्ण शब्दों में 'भारतीय साहित्य के अनन्तशाखाओं वाले वृक्ष पर भगवद्गीता एक अतिशय कमनीय और श्रीयुक्त पुष्प है। इस अत्युत्तम ग्रन्थ में प्राचीन से प्राचीन एवं नवीन से नवीन प्रश्न का विविध प्रकार से विश्लेषण किया गया है कि मोक्षोपयोगी ज्ञान की उपलब्धि कैसे हो? क्या हम कर्म से, ज्ञान से या भक्ति से ईश्वर-तादात्म्य कर सकते हैं? क्या हमें आत्मशान्ति के लिए अनासक्त बुद्धि से सांसारिक प्रलोभनों से दूर भागना चाहिए?' इसे श्री अरविन्द सब धर्मों की पुस्तक मानते हैं—'गीता किसी जाति और सस्कृति के उत्थान तथा नवनिर्माण में विश्व का श्रेष्ठतम और शक्तिशाली धर्म ग्रन्थ है। गीता भारतीय आध्यात्मिकता का परिपक्व सुमधुर फल है। मानवीय श्रम, जीवन और कर्म की महिमा का उपदेश अधिकृत वाणी में देकर सच्चे अध्यात्म का सनातन सन्देश गीता दे रही है जो आधुनिक युग के ध्येयवाद के लिए परम आवश्यक है।' महात्मा गाँधी के शब्दों में अथाह श्रद्धा की अभिव्यक्ति हुई है—'वर्तमान अवस्था में तो गीता मेरी बाइबिल या कुरान ही नहीं, प्रत्यक्ष माता है। मैं अपनी लौकिक माता से बहुत दिनों से बिछुड़ा हूं किन्तु तभी गीता माता ने मेरे जीवन में उसका स्थान ग्रहण कर लिया है।' लोकमान्य तिलक के अनुसार 'गीता ऐसा तत्त्वज्ञान है जिस पर देश और काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता।' महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री के मत में 'गीता-तत्त्व बड़ा गहन है। उसके एक-एक श्लोक पर महाभारत के

समान बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।' महात्मा श्रीकृष्ण-प्रेम गीता धर्म को सारे धर्मों की मूल भित्ति मानते थे। सुब्रह्मण्य अय्यर के अनुसार गीता उस दिव्य सन्देश का इतिहास है जो सदैव से आर्य राष्ट्र का प्राण रहा है। लाला लाजपत राय ने लिखा है—'संसार के कोने-कोने में और सब प्रकार के लोगों में चाहे वे किसी जाति के हों, किसी भी धर्म के हों, किसी मत पंथ सम्प्रदाय के हों-गीता की सर्वमान्यता और ख्याति अक्षुण्ण है।' सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के विषय में प्रथम अध्याय की पूर्व पीठिका में लिखा है—'यह कथा समस्त कथा विलासों की जन्म-भूमि है, विवेक वृक्षों का अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखों के मूलस्थान महा-सिद्धान्त की नींव है अथवा नव रसों के अमृत का सिन्धु है। अथवा यह कथा स्वयं परम गति का आश्रय-स्थल, समस्त विद्याओं का आदि पीठ और समस्त शास्त्रों का निवास-स्थान है। अथवा यह कथा धार्मिक विचारों का मायका, सज्जनों का जीवन और सरस्वतीदेवी के सौन्दर्य की सम्पत्ति का भाण्डार है।'

दो निष्ठाएँ

संसार में लोगों की प्रवृत्तियाँ एक-सी नहीं होतीं। कुछ लोगों के स्वभाव में प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है जबकि कुछ लोग प्रकृति से ही निवृत्ति की ओर झुके रहते हैं। प्रवृत्तिवादी व्यक्ति का लक्षण यह है कि वह सांसारिक कार्यों को परिस्थिति के अनुरूप पूरी शक्ति और उत्साह से कुशलतापूर्वक सम्पन्न करता है जबकि निवृत्तिवादी व्यक्ति का रुझान कर्म से अधिक उसके हेतु और परिणाम के चिन्तन की दिशा में होता है। यही दो प्रकार की निष्ठाएँ (३।३) कहलाती हैं। निवृत्ति को संन्यास और प्रवृत्ति को कर्मयोग भी कहते हैं।

संसार में यह असम्भव है कि कोई प्राणी कर्म का बिलकुल परित्याग कर दे क्योंकि यदि कर्म का करना न करना प्राणी के अधीन हो तब तो यह सम्भव है। सब लोग प्रकृति की अधीनता में परवश

होकर कर्म करते हैं न कि स्वेच्छा से। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से ही अहङ्कार, मन, बुद्धि, इन्द्रिय समूह और भूत-प्रपञ्च की सृष्टि होती है। दृश्यमान संसार का कारण यही तीनों गुण हैं। सत्त्वगुण ज्ञानाकार परिणाम को प्राप्त होता है, रजोगुण से चञ्चलता और क्षोभ उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुण से सघन जड़ता का प्रादुर्भाव होता है। हर वस्तु में यह तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। ये गुण स्वरूपतः परिणामी हैं तब क्या कोई भी वस्तु कर्म शून्य और क्रियाशून्य होकर रह सकती है ? इस प्रकार कर्म अनिवार्य हैं। भगवान् कृष्ण के शब्दों में—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

(गीता ३।२७)

वास्तविकता यह है कि सभी कर्मों का सम्पादन करने का श्रेय तो प्रकृति के गुणों को प्राप्त है। गुण ही गुणों में व्यवहार कर रहे हैं जिससे भौतिक व्यापार चल रहा है—गुण गुणेषु वर्त्तन्ते। (.।२८) जब तक सृष्टि है तब तक कर्म नहीं छूट सकते। कर्म से प्रजा और प्रजा से कर्म का अनादि चक्र चल रहा है। कर्म-चक्र के पीछे भगवान् का अन्तर्हित उद्देश्य है आत्मा के स्वभाव को परखकर स्वधर्म का निर्धारण और उसका अनुष्ठान करते हुए चित्त-शुद्धि और आत्मप्राप्ति।

त्याग कर वास्तविक स्वरूप

सिर्फ कर्मों का परित्याग करके स्वयं को संन्यासी समझना विडम्बना मात्र है। संन्यास का सम्बन्ध कर्म के परित्याग से नहीं, उसके फल के प्रति अनासक्ति से ही हो सकता है। मात्र कर्मों को छोड़ने से मिथ्याचार पनपता है क्योंकि कर्मेन्द्रियों को कर्मों की ओर से बलपूर्वक निवृत्त कर लेने से कर्मों में मन का रस कहाँ समाप्त होता है ? इन्द्रियों से विषयों का स्मरण तब भी होता रहता है। यह कुण्ठा बनाने वाला व्यवहार है और ऐसा करने वाले को गीता ने विमूढात्मा

और दम्भी कह कर पुकारा है (३।६) क्योंकि इससे तो आत्मोन्नति के सारे द्वार ही बन्द हो जाते हैं और मनुष्य अध्यात्म से संचरण करने की बजाय उसके प्रदर्शन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है जिसका परिणाम यह होता है कि समाज पर अशुभ प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति स्वयं भी अपने को नष्ट कर लेता है। ऐसे आदमी में त्याग केवल बाहर के स्तर पर होता है जबकि भीतर भोगों के प्रति अपार आकर्षण बना रहता है। उसका अनुकरण करने से लोग अपनी शरीर-यात्रा की ओर उदासीन होने लगते हैं और गलत ढंग से उदर भरने में प्रवृत्त होते है। फलतः समाज का अर्थतन्त्र दूषित और दुर्बल हो जाता है तथा गलत मार्ग का अनुकरण करने के कारण आध्यात्मिक लाभ भी समाज को नहीं मिलता बल्कि धार्मिक भ्रष्टाचार और पाखण्ड को ही अधिक प्रश्रय मिलता है। सच्चा त्यागी उसे ही समझना चाहिए जिसने समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया है और पराकाष्ठा पर पहुंचने पर यद्यपि कर्म करना उसके लिए सहज नहीं रह जाता फिर भी गीता ने कर्म को न छोड़ने की सलाह दी है और कर्म छुड़ाने के बारे में भी हतोत्साहित किया है। वासनाओं और कामनाओं का परित्याग करने वाले सत्पुरुषों को इसलिए कर्म करना चाहिए ताकि लोग कर्म का आदर्श समझकर तदनुरूप आचरण करें और समाज में फैले विकारों का परिष्कार हो सके, निर्जीव रूढि के स्थान पर गतिशील परम्परा जन्म ले सके और निष्क्रियता का वातावरण न पनपे क्योंकि निष्क्रियता तो सभी सम्भावनाओं के दरवाजों को ही सदैव के लिए बन्द कर देती है। अन्तःकरण से कामना न छूटने का दुष्परिणाम यह होता है कि योगायतन भोगायतन का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

कर्म के माध्यम से लोक शिक्षण

समाज में एक अलिखित कानून सदा चलता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है, शेष समाज उसी के पीछे चलता है, ऐसी हालत में यदि मुक्त लोग कर्म की ओर से उदासीन हो जायेंगे तो

समाज में आदर्शहीनता स्थापित हो जाएगी। समाज आकर्श से ही जीवित और गतिमान रहता है। आदर्श के अभाव में साँस लेने पर भी लोग मृतकवत् हो जाते हैं क्योंकि साधारण व्यक्ति लक्ष्य के अभाव में चारों दिशाओं मे दिग्भ्रमित होकर डोलता है और राह न सूझने पर हताश भाव से बैठ रहता है। आदर्श से समाज को मानसिक भोजन मिलता है, वह सारे समाज के लिए कर्म की प्रेरणा और स्फूर्ति का प्रकाश केन्द्र होता है। भगवान् ने इसी कारण लब्ध ज्ञानियों के लिए भी ज्ञानोत्तर कर्म की आवश्यकता प्रतिपादित की है। ज्ञानोत्तर कर्म के प्रभाव से ही साङ्कर्य और लोक का उपहनन रुका रहता है। जब समाज का नेतृत्व करने के लिये अनासक्त कर्मी प्रस्तुत नहीं होते और मठों या पर्वत-कन्दराओं में बन्द होकर व्यक्तिगत मोक्ष के चिन्तन करने भर से सन्तुष्ट रहने लगते हैं तो लुट भैयों की बन आती है और वे स्वार्थ सिद्धि की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक जीवन में कूद पड़ते हैं और लक्ष्य-दर्शी न होने के कारण वे गलत दिशाओं की ओर कर्मव्यग्र जनता को मोड़कर बुद्धि-व्यामोह उत्पन्न कर देते हैं और सार्वजनिक जीवन की पवित्रता तथा निष्कलङ्कता को दूषित कर डालते हैं। सार्वजनिक जीवन के प्रति उच्चकोटि के पुरुषों की उदासीनता समाज कर भीषण अनर्थ कर डालती है। अत: लोकादर्श के लिए भी सत्पुरुषों को कर्म का मार्ग ग्रहण करना चाहिए और देवऋण, पितृऋण आदि की भाँति समष्टि-ऋण से उऋण होने के लिए भी सचेष्ट होना चाहिये।

कर्म के तात्विक महत्व का ऐसा विशद निरूपण गीता से पहले बहुत कम हुआ है। निवृत्ति प्रधान उपनिषदों के धुआंधार प्रचार में वेद का लोकस्पर्शी स्वर भी विस्मृत-सा होने लगता है और संन्यास मानों एक सामाजिक फैशन के रूप में प्रचारित होता हुआ दिखाई पड़ता है। गीता ईशावास्योपनिषद् के चिन्तन का विस्तार कर पहली बार कर्म की गुत्थियों को सुलझाती है तथा वेदों के कर्म-काण्ड में

निपुणता रखने वाले व्यक्तियों के दम्भ पर अंकुश लगाने वाली संन्यास प्रधान उपनिषदों के स्वर की तीव्रता को कुछ कम करती है। एक तरह से ज्ञान और कर्म के अतिरेक को नहीं अपितु उनके उचित सामञ्जस्य को बिठाने के लिए ही यह अभिनव उपनिषद् विश्वगुरु ने जगत् में प्रकट की।

गीता में कर्म का गौरव

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के गीता को 'कर्मयोग शास्त्र' के रूप में प्रतिष्ठित करने का असामान्य उद्योग किया है और यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुये किन्तु गीता के टीकाकारों में संन्यासियों की भरमार है जिसमें सम्प्रदायिक आग्रह ने सत्य को तोड़ने-मोड़ने में सफलता प्राप्त की है। अधिकांश टीकायें भगवद्वाणी के मर्म को प्रकाशित करने की अपेक्षा अपने मतवाद के पोषण के लिए ही उसकी खींचतान करती दिखाई देती हैं। भगवान् कृष्ण संन्यास निष्ठा को भी कर्म निष्ठा की तरह मोक्षकारक मानते हैं किन्तु कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग में वे विशेषता बताते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते। (५।२)

योग की परिभाषाओं में भी उन्होंने कर्म-कौशल आदि की ओर सविशेष निर्देश किया है और प्रायः सर्वत्र जीवन-पद्धति के रूप में कर्म-मार्ग को अधिक गौरव प्रदान किया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि गीता का कर्म वेदों के यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अन्तिम और उदात्त लक्ष्य की रक्षा करते हुये भी—'इदन्न मम' को सहेजते हुए भी सिर्फ हवन मात्र नहीं वरन् पहली बार यज्ञ के अर्थ को अधिक व्याप्ति देने की चेष्टा गीता ने की है और वैदिक यज्ञ की सकामता के रंग को लगभग उड़ा ही दिया है। पुष्पिता वाक् पर व्यंग्य भी किया है। निश्चय 'यज्ञ' की रूढ़ि नहीं, उसकी विराट् अर्थछवियां और कर्मकाण्ड

निरपेक्ष व्यंजनाये भगवान् के मस्तिक में थीं। उन्होंने देवता सम्बन्धी यज्ञों को सूची से हटाया नहीं है किन्तु वैदिक यज्ञ के प्रतीक को गजब की विराट्ता, अनन्तता और अर्थगभीरता से मण्डित कर दिया है।

शाङ्कर भाष्य तथा रामानुज भाष्य में उन सारी उक्तियों को अर्थवादात्मक–मिथ्या प्रशंसा परक – माना गया है जिनमें कर्मयोग के वैशिष्ट्य को सूचित करने वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु आग्रहहीन दृष्टि से देखने पर कर्मयोग के प्रति गीता का विशेष रुझान स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है और उसे 'कर्मयोगशास्त्र' कहना सर्वथा उचित लगता है।

कर्म—एक साधना

गीता का कर्मयोग कर्म को विवशता मान कर ग्रहण नहीं करता अपितु उसे आत्म-विकास और लोक-शिक्षण का माध्यम मान कर अङ्गीकार करता है। आत्मविकास की यात्रा के विभिन्न पड़ावों की भांति कर्म-फल के प्रति उसके मन में क्रमशः अनासक्ति का विकास होता जाता है। वह धीरे-धीरे स्वार्थ-भाव का त्याग करना सीखता है और इस ओर सतर्क रहता है कि काम सिर्फ खानापूरी के लिये ही न हो बल्कि वह साधना का रूप ले ले। वह धीरे-धीरे अपने वास्तविक कर्म को खोज निकालता है और 'स्व' का अधिकाधिक विसर्जन करता हुआ वह सर्वभूतात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है और उसके कार्य के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना क्षीण से क्षीणतर होती चली जाती है तथा समाज हित ही उसके कर्मों का एकमात्र प्रयोजन बन जाता है। वह ईश्वरीय कर्म का माध्यम बनता जाता है और उसके माध्यम से ईश्वरीय सङ्कल्प और भागवत इच्छा अपने आप को अभिव्यक्त करते हैं। गीता का कर्मयोगी जीवन के रणक्षेत्र में घिसटने वाला सिपाही नहीं, बागडोर अपने हाथ में लेकर नेतृत्व करने वाला सेनानी है। वह अडिग सङ्कल्प का धनी होता है और स्फूर्ति तथा प्रेरणा तलाश करने के लिये उसे बाहर की मोहताजी नहीं होती।

कर्त्तव्य का महत्त्व

दर्त्तव्य एक नैतिक भावना है जो कुछ दूर तक मनुष्य के विकास के उपयोगी है। प्रारम्भ में कर्त्तव्य का खूब अभ्यास करना पढ़ता है किन्तु कर्मयोगी केवल कर्त्तव्य से विवश होने के कारण कर्म-चक्र में नहीं फँसता अपितु स्वाधीन भाव से, आनन्द के साथ, स्वयं-प्रेरणा से लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है अर्थात् कर्म का सच्चा आनन्द कर्मयोगी जानता है न कि कर्त्तव्य की नैतिकता में फँसा आदमी जो मजबूरी से उसके बोझ को ढोता है। कर्मयोगी का कर्म स्वाधीन कर्म है न कि प्रकृतिचक्र में बलपूर्वक आ फँसे दास की विवशता।

गीता का कर्मयोगी कर्म-कौशल का आचार्य होता है। आचार्य शङ्कर ने कर्म-कौशल का अर्थ किया है—'कर्म में स्वाभाविक रूप से रहने वाले बन्धन को तोड़ने की युक्ति।' कर्मयोगी कर्म के बड़े-बड़े साँपों को लिपटाये रहता है किन्तु उनके दांतों को निर्विष कर देता है। कर्म का विष उसके फल की आसक्ति में निहित रहता है। फलासक्ति ही बन्धन का वास्तविक रूप है। कर्मयोगी कर्म के अनुष्ठान को चित्तशुद्धि का माध्यम बना कर अग्रसर होता है। भावना की उदात्तता ही चित्त-शुद्धि का कारण है। कर्म की प्रेरणा को व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक और सार्वजनीन बनाते जाने से आसक्ति की मात्रा घटती जाती है क्योंकि कर्म का फल अधिकाधिक व्यक्तियों से जुड़ जाता है। मन की शुद्धि का संयोग कर्म के साथ होने पर कर्म विकर्म बन जाता है।

स्वधर्म

कर्मयोगी स्वधर्म को पहचानता है और उसके साथ भीतर और बाहर से एक हो जाता है। विनोबा के शब्दों में 'कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल होने पर

निष्कामता आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है। उस बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बन्दूक की बारूद समझो। उसमें विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक विकर्म आकर नहीं मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है, उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्म की चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस कर्म में जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहाँ उसमें बत्ती लगी कि शरीर की चिन्दी-चिन्दी उड़ी। स्वधर्माचरण की अनन्त सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहती है। उसमें विकर्म को जोड़िये, फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जायंगे और उसमें से उस परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायगी।' गीता का कर्मयोग कर्म को विकर्म के साथ जोड़ने की कला है क्योंकि अकर्म उसी से उत्पन्न होता है।

गीता का कर्म है स्वधर्म। इसे कहीं-कहीं नियत कर्म की संज्ञा भी दी गई है। स्वभाव से प्रसूत होने के कारण यह स्वभावनियत या सहज कर्म कहलाता है। नियत कर्म की विशेषता यह है कि कर्त्ता के आन्तरिक गठन से उसकी पूरी सङ्गति, समन्वय और समस्वरता होती है जिसके कारण व्यक्ति को किसी भीतरी उलझन–कुण्ठा का सामना नहीं करना पड़ता। स्वधर्म या नियत कर्म में ही विकास का मर्म छिपा रहता है, अन्यथा संसार में अनन्त कर्म हैं और यदि हर कर्म को आजमाया जाये तो उसके लिए अनन्त जन्म लेने होंगे। इसलिए गीता कर्मों के चयन पर जोर देती है। कर्मों के इस चयन में कर्त्ता की भीतरी माँग, रुचि और क्षमता ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भीतरी आवश्यकता और रुचि के द्वारा चुने गये कर्म में सभी तरह की शक्तियां विकसित होती हैं और व्यक्तित्व को परिपूर्णता की ओर ले जाती हैं। आत्मा किन्हीं विशेष कर्मों द्वारा ही सर्वात्मा का यजन करती है जिनमें उसकी अभीप्सा और दिशा प्रकट होती है। इन्हीं कर्मों को स्वधर्म कहा जाता है।

पर धर्म में बहुत आकर्षण होता है। चञ्चल बुद्धि संशय जगा देती है और व्यक्ति सोचता है कि मैं जो कुछ हूं वह न होकर दूसरे जैसा होता तो कितना अच्छा रहता। कभी कभी वह बुद्धि की लोभी प्रकृत्ति से विवश हो जाता है और स्वधर्म को अतीव साधारण, स्थूल और विकल्प की चीज मानकर पर धर्म को चुन लेता है किन्तु यह चुनाव बुद्धि प्रेरित होता है और ऐसी बुद्धि में संशय ही नहीं अनिश्चय भी रहता है, फलतः उद्वेग की सृष्टि होती है और भीतर द्वारा वरण न होने के कारण आदमी उस कर्म में 'मिसफिट' होकर रहा जाता है। भीतर की बेचैनी कर्म के गलत चुनाव की द्योतक है और उससे अधूरेपन का पता भो चलता है। इसी लिए गीता स्वधर्म मे निधन से भी कल्याण मानता है किन्तु परधर्म को चुनने की सलाह किसी भी दशा में नहीं देती। स्वधर्म है आदमी के आन्तरिक व्यक्तित्व की मांग को पूरा करने वाला कर्म जो केवल बुद्धि या केवल हृदय या केवल शरीर प्रवाह में वह कर स्वीकार नहीं किया गया है बल्कि जो विकास के लक्ष्य तक पहुंचने के क्रमिक साधन के रूप में वरण किया है। यह सर्वाङ्गीण उन्नयन की योजना का एक चरण है। स्वधर्म हमारे आन्तरिक स्वभाव पर प्रतिष्ठित है, हमारे विकास का शास्त्रीय कार्य क्रम है जिसमें हमारी प्रकृति, हमारा मार्ग और हमारा उद्देश्य समाविष्ट है।

कहा जाता है कि स्वधर्म का अभिप्राय वर्ण और आश्रम विहित आचारों से भी है जिनका निर्देश विभिन्न स्मृतियों में किया गया है। इन स्मृतियों का प्रणयन परम तपस्वी पारदृश्वा आप्तपुरुषों द्वारा समय समय पर देश काल अनुरूप जाति के विकास के लिए होता रहा है परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि स्मृतियों में सार्वकालिक तथा सभी लोगों की मनोभूमि का विकास करने वाले कार्यक्रम बहुत पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं। सार्वभौम, सर्वजातीय एवं सर्वपारिस्थितक सिद्धान्तों का नाम है वेद, स्मृतियाँ उन मौलिक नियमों के अनुकूल जीवन-व्यवहार का दिग्दर्शन करने वाली आचार-

संहितायें हैं जिन्हें आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक आदि तत्त्व प्रभावित करते हैं। उनमें स्थायी और अस्थायी बातों का मिश्रण है जो युगधर्म से प्रेरित हैं। इसलिए इसमें सन्देह ही है कि धार्मिक पुस्तकें गतिशील आध्यात्मिक यात्रा के लिए उचित सारे कार्यक्रम पहले से निर्दिष्ट कर सकती हैं। वल्कि कई बार थोथी आचार-वादिता वास्तविक धर्म तत्त्व से दूर भी ले जा सकती है और उसमें फँस कर रह जाने से हानि हो सकती है। आचार अपने भीतर फँसाने के लिए नहीं, अपनी सीमा से पार उतार देने—सन्तरण कराने के लिए है। प्रभु के जिस शास्त्र के अनुवर्तन की ब त कही है, उसका अभिप्राय वेद के अविवाद्य, सनातन, मूलभूत और स्थायी जीवन निर्देशक सिद्धान्तों से है। स्मृतियों के विधानों में विकसनशील समाज की काया अँट नहीं सकती। यही कारण है कि समाज अपनी परिस्थित और आवश्यकता को ध्यान में रख कर अपने सनातन सिद्धान्त-वेदों के आधार पर नयी आचार-संहितायें प्रकट करता है।

कर्मयोग से अनासक्ति

कर्मयोगी अनवच्छिन्न कर्म-उद्यम में भी अविराम शान्ति उपलब्ध करता है। वह कर्मानुष्ठान के समय अपने को असङ्ग और पृथक् अनुभव करता है। कर्मयोगी की उपमा उस पके हुये नारियल से दी जा सकती है जिसके भीतर का गूदा छिलके से अलग हो गया है, हिलाने पर खट्-खट् आवाज होती है, सामान्य व्यक्ति होता है कच्चे नारियल की तरह जिसका गूदा छिलके के साथ जुड़ा रहता है। स्वामी शारदानन्द जी महाराज कहते हैं—'कर्मयोग के निरन्तर अनुष्ठान से मनुष्य परिपक्व हो जाता है। सुपक्व नारियल की तरह उसके भीतर गूदा और छिलका अलग-अलग हो जाते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय तथा शरीर इत्यादि से पृथक् होकर उसकी आत्मा स्वयं अपने में ही अवस्थित रह सकती है।'

कर्मयोग छिछली देह-बुद्धि का विनाश करता है क्योंकि यह देहाध्यास और देह-बुद्धि उस समय विविध मोहों की सेना लेकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है जब हम स्वधर्म का अनुष्ठान करने के लिए अग्रसर होते हैं। विनोबा जी कहते हैं—'स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने आप उसीका पालन होना चाहिए परन्तु अनेक प्रकार के मोहों के कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाई से होता है, और हुआ भी, तो उसमें विष-अनेक प्रकार के दोष--मिल जाते हैं। स्वधर्म के मार्ग में काँटे बिखेरने वाले इन मोहों के बाहरी रूपों की तो कोई गिनती ही नहीं है फिर भी जब हम उनकी छान-बीन करते हैं, तो उन सबकी तह में एक ही बात दिखाई देती है--संकुचित और छिछली देह बुद्धि। मैं और मेरे शरीर से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति, बस, इतनी ही मेरी व्यक्ति—फैलाव की सीमा है। इस दायरे के बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन हैं। भेद की ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खडी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देह-बुद्धि के इस दुहरे पेच में पड़ कर हम तरह-तरह के छोटे डबरे बनाने लगते हैं। प्राय: सब लोग इसी कार्यक्रम में लगे रहते हैं। इनमें किसी का डबरा बड़ा, तो किसी का छोटा: परन्तु है आखिर वह डबरा ही। इस शरीर के चमड़े के जितनी ही उसकी गहराई। ········ जिधर देखिए उधर डबरे—ही--डबरे। ·········· परन्तु इसका नतीजा क्या होता है ? यही कि हीन विकारों के जन्तुओं बाढ़ और स्वधर्म रूपी आरोग्य का नाश।'

देहाध्यास से छुटकारा

कर्मयोगी देह का पोषण और रक्षण करता है किन्तु आसक्ति को समीप नहीं फटकने देता उसकी भुजायें फौलादी और स्नायु जाल वज्र की दृढ़ता से युक्त होता है किन्तु उसका मन शरीर के धरातल पर कम

घूमता है, आत्मा की अनन्त ऊँचाइयों में वह प्रायः भ्रमण करता है। देहासक्ति का नाम प्रेम नहीं बल्कि प्रेम का आरम्भ ही तब होता है जब देहासक्ति क्षीण हो जाती है। देह को सच्चा गौरव भी तभी मिलता है जब अनावश्यक देह-भाव छोड़कर उसकी देख-रेख की जाती रहे। आचार्य विनोबा भावे ने 'गीता-प्रवचन' में स्पष्ट कहा है --'जब देहासक्ति चली जायगी तब यह मालूम हो जायगा कि देह तो सेवा का एक साधन है और देह को उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परन्तु आज तो हम देह की पूजा को ही अपना साध्य मान बैठे हैं। हम यह बात भी भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देह को सँभालने की एवं उसे खिलाने पिलाने की आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरण के लिए। केवल जीभ के चोचले पूरे करने के लिए उसकी जरूरत न हो। चम्मच से चाहे हलवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं। ऐसी ही स्थिति जीभ की होनी चाहिये। उसे रस-ज्ञान तो हो, पर सुख-दुःख नहीं। शरीर का भाड़ा शरीर को चुका दिया, बस खत्म। चर्खे से सूत कात लेना है इसलिए उसे तेल देने की आवश्यकता है। इसी तरह शरीर से काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देह का उपयोग करें, तो मूलतः क्षुद्र होने पर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है। लेकिन हम देह को साधन रूप से काम में न लाकर उसी में डूब जाते हैं और आत्म-संकोच कर लेते हैं।' क्रान्तिकारियों को कितनी भयङ्कर शारीरिक यातनायें दी गई! मगर क्या उन्होंने उफ भी की। अण्डमान में पण्डित परमानन्द पर जो कुछ बीती उसके सम्बन्ध में कर्मयोगी सावरकर लिखते हैं—'पर्यवेक्षक दौड़ता आया। उसने परमानन्द को बेंत से पीटने की आज्ञा दे दी। परमानन्द को रस्सी से बाँध दिया गया और उस पर बेंतों की बौछार पड़ने लगी। वह वीर युवक लहू लुहान हो गया मगर परमानन्द के मुँह से उफ तक न निकली। वाह रे शेर! वास्तविकता यह थी कि बेंत के प्रथम प्रहार ही से वहाँ

बड़े-बड़े खूँख्वार कातिल डकैत पशुओं की तरह चीत्कार कर उठते थे, पूरी जेल उनकी चीखों से गूँज उठती थी परन्तु परमानन्द ने आह तक न भरी।' इतने त्याग के फलस्वरूप राजबन्दियों को गालियों से छुटकारा मिला। स्वयं सावरकर को क्या कष्ट नहीं उठाने पड़े किन्तु उनकी तो कामना ही कवि के शब्दों में यह थी :--

आमि धन्य होव मायरे जन्य लांछनादि सहिले।
ओदेरे वेत्राघाते कारागारे फांसि कण्ठे झूलिले।
आमार आययेन जीवन चले—
शुधू तोमार काजे जगतमाझे 'वन्देमातरम्' वले।

'मैं माँ के लिए लाञ्छना आदि सहकर धन्य होऊँगा। उसके लिए कारागार में बेंतों की मार सहकर, फाँसी के तख्ते पर झूल कर कृतार्थ होऊँगा। चाहे मेरा जीवन ही क्यों न चला जाये लेकिन तेरे लिए मैं सारे विश्व में 'वन्देमातरम्' का निनाद करूँगा।

अत्याचार पर आधारित आसुरी सत्ता को चुनौती देता हुआ कर्मयोगी कहता है :—

विधिर विधान काटवे तुमि एतो शक्तिमान् ?
आमादेर भांगा गड़ा तोमार हाते एतो अभिमान ?
शासने एतइ घेरो, आध बल दुर्बलेर उ
होउ न यतइ वड़-आछेन भगवान।

'तुम इतने शक्तिमान हो कि विधाता के विधान को भी मेंट दोगे ? हमारा उत्थान-पतन तुम्हारे हाथ में है–तुम्हें इतना अभिमान है ? शासन से चाहे जितना घिरा हो, दुर्बल की भी अपनी शक्ति होती है। तुम चाहे जितने बड़े होओ किन्तु भगवान् तुम से भी बड़ा है।'

शत्रु का आघात जितना प्रबल होता है, कर्मयोगी का संकल्प भी उतना ही दृढ़ होता है। शत्रु जितना भी भय दिखाता है, उतनी ही निर्भीकता की मात्रा बढ़ती जाती है :—

ओदेर बाँधन यत शक्ति होवे, मोदेर बाँधन टूटवे।

ओदेर आँखि यत रक्त होवे, मोदेर आँखि फूटवे।
ओरा यत जोर मारवे रे घात ततइ ये दृढ़ उठवे।

उनका बन्धन जितना ही कठोर होगा, हमारा बन्धन उतना ही टूटेगा। उनकी आँखें क्रोध से जितनी लाल होंगी, हमारी आँखें उतनी ही खुलेंगी। वे घावों पर जितने जोर से आघात करेंगे, भक्ति की तरंग उतनी ही उठेगी।'

कर्मयोगी जीवन का उत्सर्ग करके भी राष्ट्र को आनन्द देना चाहता है, अपने प्राण देकर भी देश की जड़ता को तोड़ना चाहता है, अपनी हड्डियाँ गला कर भी देश में ज्योति जलाना चाहता है।

मोरा आपनि मरे मरार देशे आनव वराभय
मोरा फाँसि परे आनव हासि मृत्यु जयेरफल
मोदेर अस्थि दियेइ ज्वलिबे देशे आवार वज्रानल।

'हमारे मरने से ही इस मुर्दा देश में आशीर्वाद और अभय आयेगा। हमारे फाँसी के फन्दे को पहनने से मिली मृत्यु विजय के फलस्वरूप इस देश में प्रसन्नता की लहर आयेगी। हमारे अस्थिदान से ही इस देश में तीव्र वज्रानल धधकेगा।'

मृत्यु का हँसते हुए स्वागत

कर्मयोगी मृत्यु को सहज रूप से ग्रहण करता है, वह उसके उल्लास का विनाश नहीं कर पाती और न उसे उसके ध्येय से विरत ही करने में समर्थ होती है। लाला पिण्डीदास ने भगतसिंह से अन्तिम बार मिलते समय पूछा—'कहो भगत, कोई आखिरी ख्वाहिश, कोई आखिरी पयाम ?' भगतसिंह ने कहा—'चाचा जी, सिर्फ एक ख्वाहिश है कि मरने से पहले मुझे कोई मेरे प्यारे चाचा सरदार अजीतसिंह से मिला दे जिनको बिना देखे ही मैं उनके पदचिह्नों पर चलने लगा और इस आँसुओं की घाटी में आया। उनके प्यार ने ही मुझे मेरी मंजिल तक मुझे पहुंचाया।' उसी भेंट में सरदार ने अपनी माता जी से कहा था—बेबेजी, दादाजी अब अधिक दिन नहीं जियेंगे। आप बंगा जाकर

इनके पास ही रहना।' उसने सबसे अलग-अलग बात की, सबको सान्त्वना दी और हँसते हुये मां से कहा--'लाश लेने आप मत आना' कुलवीर को भेज देना। कहीं आप रो पड़ीं तो लोग कहेंगे कि भगतसिंह की माँ रो रही हैं।' इतना कहकर वे इतने जोर से हँसे कि जेल-अधिकारी फटी आँखों से देखता रह गया। अशफाक उल्लाह खाँ की माता बेगम मजहुरनिसा जब जेल में भेंट करने गईं तो अशफाक एक तौलिया लेकर भेंट करने आये। माँ ने पूछा—'यह तौलिया क्यों लाये हो ? क्या डर या शर्म से मुँह छिपाने के लिए ?' हँसते हुए कर्मयोगी ने उत्तर दिया—माँ, मुझे सन्देह था कि तुम मुझे जेल में देखते ही रो न पड़ो, इसलिए आँसू पोंछने के ख्याल से यह तौलिया लाया था।' मृत्यु के उल्लास-पर्व पर मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं--'हमने उस दिन अपने अच्छे से अच्छे कपड़े पहने' पुराने जमाने से यह भी एक रिवाज चला आ रहा है कि ऐसे मौकों पर लोग ऐसा ही करते हैं। हल्दीघाटी के राजपूत इसी प्रकार मरने के लिए अपनी सबसे अच्छी पोशाकें पहन कर गये थे और राजपूत रमणियाँ जोहर व्रत के लिए भी खूब बन-ठन कर जायी थीं। ठाकुर रोशनसिंह ने इस अवसर पर अपनी इत्र की शीशी निकाली और प्रत्येक के वस्त्र पर थोड़ा-थोड़ा इत्र लगाया। उन्होंने स्वयं बहुत अच्छी, बल्कि भड़कीली पोशाक पहन ली।

प्रतिदिन जब हम राजेन्द्र लाहिड़ी से मिलते थे तो हम उनका अभिवादन या तो मुस्करा कर करते थे या हाथ मिलाते थे किन्तु आज किसी ने उनसे आलिंगन करके अभिवादन नहीं किया। ठाकुर रोशनसिंह अपनी इत्र की शीशी साथ लाये थे और उन्होंने राजेन्द्र बाबू की कैदियाना बर्दी में इत्र लगा दिया।

पण्डित रामप्रसाद ने अपने मृत्यु दण्ड की बात माथे पर जरा भी शिकन न आने देकर सुनी। ठाकुर रोशनसिंह के लिए फाँसी की सजा बिल्कुल अप्रत्याशित थी, किन्तु उन्होंने इस सजा को बहादुरी के साथ

सुना। उन्होंने सजा को सुनकर 'ओ३म् ओ३म् कहा। जहाँ पर राजेन्द्र लाहिड़ी, मैं और दूसरे लोग खड़े थे, वे वहाँ पर आये और बोले-- 'हमने तो जीवन का आनन्द खूब उठा लिया। यदि मुझे फाँसी हो जाये तो कोई गम नहीं। किन्तु तुम लोगों ने तो अभी जीवन का कुछ नहीं देखा।' इसके बाद राजेन्द्र बाबू बोले, 'मेरी तो थोड़ी देर की तकलीफ है। महीने दो महीने में खत्म हो जायगी, किन्तु मुझे तो उन लोगों के विषय में चिन्ता हो रही है, जिन्हें चौदह-चौदह और बीस-बीस साल तक जेलों में सड़ना है।'

ये कथन ऐसे कर्मयोगियों के थे जिनकी प्रतीक्षा फाँसी के फन्दे कर रहे थे। मरण भी कर्मयोगियों के लिए महोत्सव बन गया।

फल की कामना नहीं

कर्मयोगी के कर्म के पीछे 'मुझे फल मिले' इस बात का आकर्षण नहीं होता। उसका जीवन यज्ञरूप होता है। जिस प्रकार सूर्य का सहज धर्म ही प्रकाश फैलाना है, उसी तरह कर्मयोगी भी जनता के लिए कर्म करता है, अपनी कीर्ति या उद्धार की भावनाओं से नहीं।

गीता का कर्मयोग फलत्याग को बहुत महत्त्व देता है और ऐसा करने वाले के लिए सभी अच्छे विशेषणों का व्यय कर डालता है। कर्मयोगी सत्कर्म करता है, उनके परिणामों की गिनती करने नहीं बैठता। कर्म उसके लिए अर्चना का उपकरण होते हैं जिनसे वह विश्वात्मका को तृप्त करता है। शङ्कराचार्य के शब्दों में—

'यद् यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्।'

[जो जो कर्म करता हूं वह सब कुछ हे शिव ! तुम्हारी पूजा है।]

पुण्डलीक माता-पिता की सेवा बड़े प्रेम और मनोयोग से करता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् पाण्डुरङ्ग मिलने दौड़े आये। पुण्डलीक को अवकाश न था। उसने भगवान् से कहा—'माता-पिता की सेवा में व्यस्त होने के कारण मुझे आपसे बात करने का समय नहीं

है। आप तब तक इस ईंट पर बैठ लीजिये।'

यह कह कर उसने ईंट सरकादी और स्वय सेवा कार्य में लग गया। यह फल त्याग की पराकाष्ठा है। साधक को साधन में इतना रस आने लगता है कि उसके फल की ओर उसका ध्यान ही नहीं रहता। वह कर्म के लिए कर्म करता है।

कर्मयोगी कर्म की पृष्ठ भूमि में निहित भावना को महत्त्व देता है न कि कर्म के आकार-प्रकार को। सुदामा के चार चावल! मगर भगवान् ने उसके पीछे छिपे स्नेह को देखा। कर्म में वास्तविक महत्व तो भावना का ही है। विनोबा जी के शब्दों में, 'कर्म को नोट ही समझो। भावना रूपी मुहर की कीमत है, कर्मरूपी कागज के टुकड़े की नहीं।' रुक्मिणी के एक तुलसीदल से प्रभु तुल गये जबकि सत्यभामा के मन भर गहनों से कुछ नहीं हुआ। सदना जाति से कसाई थे मगर उन्हें प्रभु की प्राप्ति हुई। सेना नाई ने कर्म को ही पूजा मानकर सम्पन्न किया और भगवान् की कृपा पाई। धन्ना जाट पर भी प्रभु की कृपा हुई। कर्म के बाह्य रूप में ही फँस कर रह जाना ठीक नहीं। पवित्र भावना से कर्म करने पर कर्म की कीचड़ धुल जाती है और उसकी कीमत बढ़ जाती है क्योंकि उस कर्म का फल होता है चित्त की शुद्धि।

ईश्वरार्पण

गीता का कर्मयोगी अपने कर्मों को प्रभु के लिए अर्पित कर देता है—कर्ममात्र को। सन्त कहते हैं कि प्रत्येक क्रिया को ईश्वर से जोड़ने मात्र से एक विलक्षण परिवर्तन घटित हो जाता है। महाकेन्द्र की शक्ति साधक में सञ्चारित होने लगती है, प्रत्येक क्रिया में पवित्रता आ जाती है, नवीन स्फूर्ति का सञ्चार होने लगता है और जीवन में उल्लास की छटा फैलने लगती है। कर्मयोगी का भोजन, यज्ञ, दान, तप सभी कृष्णार्पण होता है। भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म करने से कर्म यज्ञ का

रूप ले लेते हैं। उनमें सब ओर शुभ, मङ्गल और पवित्रता व्याप्त हो जाती है।

समष्टि कल्याण

श्री अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय का मत है कि समय के फेर से यज्ञ कुछ विशेष अनुष्ठानों के रूप में, कुछ मन्त्रों का उच्चारण करके जलते हुए अग्नि-कुण्ड में घृतादि की आहुति देने के रूप में परिणत हो गया। इसी से बहुत लोग यज्ञ के यथार्थ तात्पर्य को भूल गये हैं। आज कल यज्ञ के नाम से जो कुछ समझा जाता है, वह तो यज्ञ की अंगभूत एक विशेष क्रिया मात्र है, यज्ञ सम्पादन का एक उपलक्ष्य मात्र है। वस्तुतः यज्ञ का तात्पर्य है—'समष्टि के कल्याण के लिए व्यष्टि द्वारा आत्म-त्याग।' अपने अनित्य ऐहिक सुखों की आकांक्षा न करके मनुष्य जब अपने द्वारा उपार्जित और प्राप्त अन्न-वस्त्र-धन आदि सारी सम्पत्ति को देव-सेवा-बुद्धि से जाति और समाज के विभिन्न श्रेणियों के नर-नारियों में यथायोग्य बाँट देता है, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वृक्ष-लता भी जब उसकी सेवा से वंचित नहीं होते। इस प्रकार मनुष्य जब अपने व्यष्टि जीवन को दान और सेवा के द्वारा कुल, समाज, जाति और विश्व मानव तथा विश्व प्रकृति के समष्टि जीवन के साथ योगयुक्त करके चलाता है, तभी उसका यज्ञ का अनुष्ठान सार्थक होता है तभी उसका जीवन यज्ञमय होता है। सेवामय जीवन ही यज्ञमय जीवन है और इसी का जीवन देहान्त के बाद दिव्य देह के द्वारा अनन्त काल तक अनन्त सुख का अधिकारी है।

संसार में हम अपने निजी क्षुद्र स्वार्थ के लिए जितना ही चाहते और भोग करते हैं, उतना ही हमें अपना बड़ा स्वार्थ छोड़ना पड़ता है, उतनी ही विश्वदेवता की जीवन धारा के साथ हमारे कर्म जीवन की एकतानता नष्ट होती है जिससे हमें देवत की हिंसा—उसके विश्वविधान के कठोर शासन–दण्ड को स्वीकार करना पड़ता है, उतना ही स्वर्गीय

सुखमय जीवन से वंचित होकर हम दुःख-द्वन्द्व के जटिलतामय नारकीय जीवन की राह पर अग्रसर होते हैं। जीवन को भोगोत्तर न कर देवोत्तर करना होगा। हमारे पास जो कुछ है, हम जो कुछ प्राप्त करते या कमाते हैं—हमारा अन्न, धन, शक्ति, ज्ञान, प्रभाव, प्रतिपत्ति—सभी कुछ देवता की वस्तुएँ हैं, सभी देवता की कृपा से हमारे पास आयी हैं और उन्हें देवत के भोग में ही लगा देना पड़ेगा। देवता का भोग सम्पन्न है—दीन-दरिद्र के भोग के द्वारा, साधु और ब्रह्मनिष्ठों के भोग के द्वारा। विश्व की सेवा में अपनी आहुति दे डालना ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है, जीवन की सार्थकता है और स्वर्ग का अधिकार पाना है।

अमर आत्मा

गीता का कर्मयोग आत्मा की अमरता का उपासक है। वह अमर जीवन का विश्वासी है न कि सान्त जीवन का। उसके लिए मृत्यु एक विश्राम है न कि जीवन का त्रासपूर्ण अवसान! आत्मा जीवन की इस अनन्त यात्रा में कई बार कपड़े बदलती है, पुराने उतार कर फेंकती है और नये स्वीकार करती है। जन्म और मृत्यु जीवन के दो पड़ाव हैं। इन पड़ावों पर नई स्फूर्ति सञ्चित कर आगे की दिशा में आत्मा अग्रसर हो जाती है। कर्मयोगी के लिए मृत्यु का अर्थ यह नहीं कि अब जीवन का क्रम भङ्ग होगा। मृत्यु केवल शरीर का सत्य है न कि आत्मा का। एक ही शरीर को हमेशा ढोते रहने की अपेक्षा आवश्यकता होने पर नये शरीरों को धारण करने का अवसर प्रभु की ओर से वरदान के रूप में प्राप्त हुआ है। शरीर को अमर करने की बात वह नहीं सोचता क्योंकि यह आत्मा का वस्त्र है, आत्मा के सङ्कल्पों की परिपूर्ति के लिए एक यन्त्र है। कर्मयोगी शरीर में आत्म-बुद्धि नहीं रखता इसलिए शरीर पर होने वाले आघात को अपने ऊपर होने वाला आघात मान कर वह हाहाकार नहीं करता और प्राणों की रक्षा के लिए किसी के आगे गिड़गिड़ाता नहीं। आत्मा की अमरता का ध्रुव

विश्वास मौत के मुँह में भी उसके चेहरे पर जरा-सी शिकन नहीं आने देता और उसका उल्लास, आनन्द तथा अभय रंच मात्र भी कम नहीं होता। आत्मविश्वास का सच्चा अर्थ ही है आत्मा की अमरता में सुदृढ़ निष्ठा। धर्मवीर हकीकत आत्मा की अमरता में अविचल आस्था होने के कारण जल्लादों के सामने भी अडिग रहता है और परधर्म का आलिंगन करने की अपेक्षा मरण के वरण को अधिक आनन्दपूर्ण समझता है। उसके अतिरिक्त भला कौन कह सकता है ?---

काट सकते हो तो बाहर का हकीकत काटो
काटती असली हकीकत को यह तलवार नहीं।

गीता का कर्मयोगी देश के लिए हँसते-हँसते फांसी का फन्दा चूम लेता है किन्तु एक बार भी प्राणों का मोह उसे नहीं सताता। रामप्रसाद 'बिस्मिल' और ठाकुर रोशनसिंह, अशफाक उल्लाह खाँ और भवतसिंह हँसते-हँसते बलिवेदी की ओर बढ़ जाते हैं, बिस्मिल व्यायाम करने का नियम अन्तिम दिन तक पूरा करते हैं, आखिरी दम तक हँसते हँसते रहते हैं मगर मृत्यु उन्हें आतङ्कित करने में असफल रहती है। सुकरात पर युवकों को पथभ्रष्ट करने का आरोप लगा कर न्याया-लय दण्डित करता है। सुकरात के हाथों में विष का प्याला है और उसके चारों ओर खड़े लोगों की आँखों में आंसू। किन्तु सुकरात के चेहरे पर कोई उद्विग्नता नहीं! ऐसी शान्ति आत्मा की अमरता के साक्षात्कार के बिना नहीं आ सकती। सरदार पटेल को न्यायालय में बहस करते समय अपनी पत्नी की मृत्यु का समाचार मिला, किन्तु साथियों को इसका पता तब चला जब न्यायालय का काम पूरा हो गया। ऐसी दृढ़ता और असंगता आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने से ही उत्पन्न होती है। श्रीवास के यहां चैतन्य महाप्रभु पधारे हुए थे। भक्ति की सरिता कल-कल करती प्रवाहित हो रही थी। श्रीवास के पुत्र का प्राणान्त हो गया लेकिन श्रीवास ने किसी को जरा-भी खबर न

होने दी और महाप्रभु का कार्यक्रम चलता रहा। यह दृढ़ता निर्ममता से नहीं, तत्व-दर्शन से उद्भूत होती है।

मन और मस्तिष्क का सन्तुलन

कर्मयोगी परिस्थिति की अनुकूलता-प्रतिकूलता का मोहताज नहीं होता। वह अनुकूलता में फूलता नहीं और प्रतिकूलता में शोक नहीं करता। दोनों हालतों में वह अपने मस्तिष्क और मन का सन्तुलन बनाये रखता है। कहा जाता है कि किसी जलपान गृह में दो व्यक्ति जलपान कर रहे थे। सामने मेज पर गिलास में पानी रखा था। एक ने कहा—'अरे, गिलास आधा खाली हो गया।' दूसरा बोला—'हाँ, अभी तो आधा भरा हुआ है।' इस वार्तालाप से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनमें एक व्यक्ति का रुझान निराशावादी है और दूसरे का आशावादी। कर्मयोगी आशावादी होता है, उत्साह बनाये रखता है किन्तु उसका परिस्थिति-सम्बन्धी आकलन बिलकुल दुरुस्त और सम्यक् होता है। असफलतायें उसे तोड़ नहीं पाती और सफलतायें उसमें गर्व का संचार नहीं करती। वह फल से अधिक मार्ग की चिन्ता करता है। उसके पग सधे हुए और सन्तुलित होते हैं, उनमें उतावली या उपेक्षा नहीं होती। महान् कर्मयोगी तिलक से पूछा गया कि भारत के स्वाधीन होने पर आप क्या करेंगे? उनका उत्तर उनके अनुरूप था—गणित का अध्यापक बनना पसन्द करूंगा। यह सरलता विनम्रता कर्मयोगी के स्वभाव की अभिन्न विभूति बन जाती है।

लोगों का उपहास और ताने गीता के कर्मयोगी को ध्येय से विचलित नहीं कर सकते। आचार्य यूक्लिड को ज्यामिति सम्बन्धी लगन को देख कर लोग उन्हें पागल समझते थे किन्तु उन्होंने किसी की परवाह नहीं की। मृत्यु शय्या पर पड़े पिता ने उन्हें बुला कर कहा—'मौत मेरे निकट आ चुकी है, अतः वसीयत करना चाहता हूं। तुम्हारे कृत्यों को लोग वैसे ही उपहास की दृष्टि से देखते हैं। मुझे आशा नहीं

कि तुम मेरी दूकान का कार्यभार संभाल सकोगे फिर भी यदि तुम मुझे वचन दो कि तुम अपना रास्ता बदल दोगे तो मैं तुम्हें अपना उत्तराधिकारी बना सकता हूं अन्यथा मैं यूनेमस को सब कुछ दे जाऊंगा ।' यूक्लिड ने उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया ।

कर्मयोगी किसी भी कीमत पर बिकता नहीं । १९०६ ई० की बात है । वीर सावरकर को सजा सुनाई जा चुकी थी । कैदियों की गाड़ी में बन्द करके उन्हें इस प्रकार ले जाया जा रहा था कि बाहर के आदमियों की आवाज तो सुन पड़ती थी किन्तु उनके चेहरे नहीं दिखाई पड़ते थे । एक पुलिस अधिकारी ने उनसे कहा, 'सावरकर ! तुम्हारी हालत पर मुझे रहम आता है' तुम जैसे जवान बैरिस्टरी करने के बजाय जेल जायें, यह बात अच्छी नहीं । वह सामने वाला बँगला देखो, वह तुम जैसे एक बैरिस्टर का है । सिर्फ चार साल की वकालत से उसने इतना धन और यश प्राप्त किया है ।' सावरकर बोले, 'खां साहब, क्या आप समझते हैं कि मैंने वकालत नहीं की ? नहीं, यह बात नहीं । मैंने एक बड़ा मुकदमा लिया है, वह किसी आदमी का नहीं है । वह आप जैसे देश भाइयों का मुकदमा है । आप इस मुकदमे को जानते नहीं हैं । इसीलिए आपने मेरे हाथ में हथ-कड़ियाँ पहनाई हैं ।' पुलिस अधिकारी अपना-सा मुंह लेकर रह गया । स्पार्टा का एक वीर युद्ध क्षेत्र में आहत होकर गिरा हुआ था । लोगों ने उससे कहा, 'तुम्हारे कारण स्पार्टा को विजय मिली है ।' बताओ, किस प्रकार तुम्हारा स्वागत किया जाय ?' वीर ने उत्तर दिया—'मेरी समाधि पर लिख दो - 'Sparta has worth ier sons than he-and worthiest will take brith.' [स्पार्टा के पास उससे बढ़कर पुत्र विद्यमान हैं तथा आने वाली सन्तान और भी श्रेष्ठ होगी ।'] सम्मान के प्रति कर्मयोगी का दृष्टिकोण यही रहता है ।

कर्मयोगी न मरता है और न किसी को मारता है क्योंकि उसके

ताडन व्यापार के पीछे व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना नहीं होती अपितु समष्टिहित की प्रमुखता होती है। १६०६ ई० की पहली जुलाई को लन्दन के खुले मैदान में मदनलाल धींगरा ने कर्जन वाइली को परलोक पहुंचा दिया। क्रान्तिकारी ने अपने बयान में जो कहा वह स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है—'जो सैकड़ों अमानुषिक फाँसी तथा काले पानी की सजा हमारे देश भक्तों को हो रही हैं, मैंने उसी का एक साधारण सा बदला उस अँग्रेज के रक्त से लेने की चेष्टा की है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने विवेक के अतिरिक्त किसी से सलाह नहीं ली, मैंने किसी के साथ षड़यन्त्र नहीं किया। मैंने तो केवल अपना कर्तव्य पूरा करने की कोशिश की है। एक जाति को जिसे विदेशी संगीनों से दबाये रखा जा रहा है, यह समझ लेना चाहिये कि वह बराबर लड़ाई ही कर रही है। एक निःशस्त्र जाति के लिए खुला युद्ध तो सम्भव ही नहीं। मैं एक हिन्दू होने की हैसियत से समझता हूं कि यदि हमारी मातृभूमि के प्रति कोई अनाचार करता है तो ईश्वर का अपमान करता है। हमारी मातृभूमि का जो हित है, वह श्रीराम का हित है। उसी की सेवा श्रीकृष्ण की सेवा है। मेरी तरह एक हतभाग्य सन्तान के लिए जो चित्त तथा बुद्धि दोनों से हीन है, इसके सिवा और क्या है कि मैं अपनी माता की यज्ञ वेदी पर अपना रक्त अर्पण करूँ। भारतवासी इस समय केवल इतना ही कर सकते हैं कि वे मरना सीखें और इसके सीखने का एकमात्र उपाय यह है कि वे स्वयं मरें। इसीलिए मैं मरूँगा और मुझे इस शहादत पर गर्व है। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मैं फिर उसी माता के गर्भ स जन्म लूँ और फिर इसी पवित्र उद्देश्य के लिए अपने प्राणों का अर्पण कर सकूँ। यह तब तक के लिए चाहता हूं जब तक कि वह विजयी और स्वाधीन न हो जाय, ताकि मानव जाति का कल्याण हो और ईश्वर की महिमा का विस्तार हो।'

कर्मयोगी अपने लाभ-हानि की चिन्ता न कर लक्ष्य की सफलता में

ध्रुव विश्वास रखता है। ६ मई १९२७ को सुभाषबाबू ने इनसीन जेल से लिखा था—'हम भगवान् के प्रकाशपुंज के कुछ स्फुलिंग मात्र हैं। देह के सुख-दुःखों का परित्याग कर जो आत्म-निवेदन कर सकते हैं, जीवन में उनकी सफलता अवश्यम्भावी है। हमारे आदर्श एक दिन विजयी होंगे, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। मैं दूकानदार नहीं हूं। जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में मेरी धारणा बाजारू विचारों से भिन्न है। मेरा विचार है कि शारीरिक सुख या व्यक्तिगत सफलता या असफलता का निर्णय नहीं किया जा सकता। हमारे संघर्ष का उद्देश्य भौतिक शक्ति प्राप्त करना नहीं है। विजय लाभ हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं। सन्त पाल ने कहा है—'हमारा मोर्चा भौतिकता और अन्याय के विरुद्ध है।' स्वतन्त्रता और सत्य ही हमारे आदर्श हैं।' कर्मयोगी सुभाष ने आई० सी० एस० से त्याग पत्र देते हुए लिखा था—'मेरा विचार है कि ब्रिटिश सरकार के प्रति भक्ति रखते हुए भारत माँ की सेवा हृदय और आत्मा से नहीं की जा सकती।' कर्मयोगी ने सेवा की राह अपनाई, सुख और अधिकार को निर्ममता पूर्वक ठुकरा दिया।

स्वाधीनता का मन्त्र

गीता स्वाधीन जीवन की गीतिका है। भारतीय स्वाधीनता के महासमर में गीता ने सबसे अधिक प्रेरणा प्रदान की। कलकत्ते में जब छापे मारे गये तब प्रत्येक क्रान्तिकारी के घर से गीता और योग के चार्ट प्राप्त हुए। इसी कारणवश गीता का नाम राजद्रोही साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया था। रामप्रसाद 'बिस्मिल', चन्द्रशेखर आजाद, शचीन्द्रनाथ सान्याल, सावरकर-बन्धु, लाला अमीरचन्द, भाई परमानन्द, मदनलाल धींगरा, रास बिहारी बसु, सुभाषचन्द्र बसु आदि क्रान्तिकारियों को गीता से ही स्फूर्ति मिली थी। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई आखिरी समय पर भी गीता के श्लोकों का उच्चारण करती रहीं। इस प्रकार गीता में कर्मयोग का सन्देश कूट-कूट कर भरा हुआ है और

सभी कर्मयोगी उससे स्फूर्ति प्राप्त करते रहे हैं तथा कर्म के स्वरूप और लक्ष्य को समझकर तदनुरूप आचरण में प्रवृत्त होते रहे हैं।



योगवासिष्ठ में कर्मयोग

योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है - 'योगवासिष्ठ मेरे लिए सर्वाधिक आश्चर्य एवं चमत्कार से पूर्ण श्रेष्ठतम ग्रन्थ है :—[One of the greatest books and the most wonderful according to me ever written under the Sun is Yogvashistha.] डा० भगवानदास ने 'Mystic Experiences' की प्रस्तावना में लिखा है—'योगवासिष्ट सिद्धावस्था का ग्रन्थ है। इसके विचार, दर्शन, रहस्य, निरूपण-प्रणाली, भाषा, अलंकार—सब एक से एक आश्चर्यकर हैं।' लाला बैजनाथ के अनुसार 'वेदान्त ग्रन्थों में योगवासिष्ठ की कोटि का कोई भी ग्रन्थ नहीं है।' पण्डित जानकीनाथ शर्मा के शब्दों में, 'योगवासिष्ठ भारतीय ज्ञान-रवि की एक अनुपम रश्मि है। इसमें संसार, उससे तरने के उपाय, दैव, पुरुषार्थ, तत्वज्ञान एवं उसके साधनों के प्रत्येक अङ्ग पर इतना क्रम-क्रम से विचार किया गया है कि देखते हुए आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। स्वयं भगवान् वसिष्ठ ने कहा हैं—'संसार-सर्प के विष से विकल तथा विषय-विषूचिका से पीड़ित मृतप्राय प्राणियों के लिए योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ गारुड-मन्त्र हैं।'

मन की आसक्ति से बन्धन

योगवासिष्ठ ने जीवन्मुक्त पुरुषों के लिए भी सत्कर्म की प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है। जिसकी हेय दृष्टि और उपादेय दृष्टि क्षीण हो गई हैं, उसे कर्म का त्याग करने से क्या प्रयोजन ? तत्वज्ञ पुरुष को न तो

कर्मों के त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों का आश्रय लेने से। इसलिए वर्ण और आश्रम के अनुसार जो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है। सदा निर्विकार रहने वाली समतायुक्त निर्मल बुद्धि से जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है। संसार सागर से पार होने में न तो वनवास कारण है, न अपने ही देश में रहना कारण है और न कष्ट साध्य तपस्या ही कारण है। कर्म का परित्याग करना अथवा कर्म का आश्रय लेना भी संसार से निवृत्ति का कारण नहीं है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं, वह भवसागर से पार हो जाता है। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसने अपने मन को विषयों में खुला छोड़ रखा है, वह व्यक्ति संसार-समुद्र में डूबता ही है।

उपशम प्रकरण में श्रीवसिष्ठजी श्रीराम से कहते हैं कि कर्त्तव्य बुद्धि से कार्यों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति मुक्त है। जो पुरुष समस्त कर्मों को कर्त्तव्य-बुद्धि से सम्पन्न करता है तथा उन कर्मों के फल के पुष्ट या नष्ट होने पर सब कार्यों में समत्व भाव रखता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, उसके भीतर सारे द्वन्द्व उसी तरह मिट जाते हैं जैसे दिन में अन्धकार।

पुरुषार्थ की प्रमुखता

महर्षि वसिष्ठ ने पौरुष और प्रारब्ध का बहुत युक्ति-युक्त विश्लेषण किया है—'राघव ! इस संसार में सदा अच्छी तरह पुरुषार्थ करने से सबको सब कुछ मिल जाता है। निरन्तर यज्ञ में संलग्न रहकर बुद्धिमान तथा साहसी पुरुष मेरु पर्वत को भी निगल जाने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। शास्त्र से नियन्त्रित-पुरुषार्थ के सम्पादन में तत्पर पुरुष का उद्योग ही मनोवांछित फल की सिद्धि का कारण होता है। जैसे नीले-पीले आदि विभिन्न रंगों को अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है, उसी प्रकार शास्त्र के अनुसार मन, वाणी और शरीर द्वारा व्यवहार करने

वाले अधिकारी पुरुषों के समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति ही प्रधान साधन है। पूर्वकृत कर्म ही फल देने के लिए उन्मुख होने पर दैव कहलाता है। इसके अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नहीं। पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से तथा सज्जनों के सङ्ग से ऐसा उद्योग करना चाहिए कि इस जन्म का पौरुष पूर्व जन्म के प्रारब्ध को जीत ले। अपने उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर घोर चेष्टा कर पुरुष को पूर्वजन्म के अशुभ पौरुष पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

जैसे अपने द्वारा कल घटित हुए दोष का आज प्रायश्चित कर लेने से नाश हो जाता है, उसी प्रकार इस जन्म के शुभ प्रयत्नों से पूर्व जन्म का दोष निस्सन्देह नष्ट हो जाता है। उद्योग शून्य व्यक्ति गधे की तरह गये-बीते हैं, अतः प्रयत्न छोड़कर उन्हीं की श्रेणी में नहीं आ जाना चाहिए। मनुष्य को पुरुषार्थ रूपी प्रयत्न का आश्रय लेकर इस ससार गड्ढे से स्वयं बल पूर्वक निकल जाना चाहिए। शुभ पुरुषार्थ से शीघ्र ही शुभ फल की प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थ से सदा अशुभ फल मिलता है। इन शुभाशुभ पुरुषार्थों के सिवा दैव या प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु नहीं। पूर्वजन्मों का पुरुषार्थ ही दैव है।

पूर्वजन्म और इस जन्म के कर्म दो भेड़ों की तरह आपस में लड़ते हैं। उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षणभर में पछाड़ देता है। इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बल से दैव को नष्ट का देता और पूर्वजन्म का प्रबल पुरुषाथ इस जन्न के दुर्बल प्रयत्न को दबा देता है। पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप प्रारब्ध और वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ—इन दोनों में वर्तमान जन्म का पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान् है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति—यही मनुष्य का स्वार्थ है, उसके आवश्यक कर्त्तव्य या साधन में तत्पर रहना ही पुरुषार्थ कहलता है। वह तत्परता यदि शास्त्र-नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति करा देती है। जो प्रत्यक्ष पुरुषार्थ को छोड़ कर दैव रूप मोह में निमग्न होता है, वह मूढ़ है। जो लोग उद्योग का त्याग

करके केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाश कर डालते हैं :—

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता: दैवपरायणाः ।
ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशन्त्यात्मविद्विषः ।।
(योग मुमुक्षु० ७।३)

पौरुष से ही अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होती है । पौरुष से ही बुद्धिमान् लोग कल्याण मार्ग में प्रगति करते हैं । वसिष्ठ जी के शब्दों में दैव तो दुःख सागर में डूबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्त वाले लोगों के लिए आश्वासन मात्र है।' शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान और पण्डितजन दैव की प्रतीक्षा नहीं करते । विश्वामित्रजी ने पौरुष से ब्राह्मणत्व पाया, भाग्य के भरोसे नहीं ।

वसिष्ठ जी के अनुसार अन्तः करण में स्थित मन की वृत्ति का निश्चय कि अमुकवस्तु ग्रहण करने योग्य है, इसका विश्वास ही वासना कहलता है । यह वासना ही कर्त्तृत्व है । कर्त्तृत्व से फलभोक्तृत्व होता है । जिसका मन फलासक्ति में डूबा हुआ है वह कर्म न करके भी कर्त्ता ही माना जाता है । तत्वज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्म के फल की इच्छा नहीं रखता । मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है । मन जिसे नहीं करता वह किया हुआ नहीं होता । अतः मन ही कर्त्ता है, शरीर नहीं ।

आसक्ति का त्याग ही सच्चा त्याग

कर्मयोगी ममत्वबुद्धि से रहित, केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं । आसक्तिरहित होकर न्याय से प्राप्त कर्म करने वाला मनुष्य कर्मों से लिप्त नहीं होता । अपने सम्पूर्ण स्वार्थों को परमेश्वर में समर्पित कर तथा स्वयं को ईश्वरार्पण कर निष्पाप एवं सभी प्राणियों

की आत्मा बन कर इस भूतल को विभूषित कर करते हुए साधक स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फलों में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित है तथा परमात्मा में मस्त है, वह कर्मों को भली भाँति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता। वसिष्ठ जी कहते है कि जो मिथ्या ज्ञान रखने वाले पुरुष वासना का त्याग किये बिना केवल कर्मेन्द्रियों पर संयम करते हैं, मूढ़ पशतुल्य हैं। उनको वह कर्मत्याग नामकी पिशाची खा जाती है। वे मूल का उच्छेद किये बिना जो ऊपर से कर्म का त्याग किया जाता है, वह वृक्ष की जड़ न काट कर उसकी शाखा काटने के समान व्यर्थ है। जिस कर्म रूपी वृक्ष की जड़ न काटकर केवल शाखा का उच्छेद किया जाता है, वह पुनः सहस्रों शाखाओं से विस्तार को प्राप्त हो केवल दुःख देने के लिए बढ़ता रहता है। प्रिय राम ! सङ्कल्प शून्यता ही वास्तविक कर्म-त्याग है।

ज्ञान तथा कर्म का समन्वय

योगवासिष्ठकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय के समर्थक हैं। सुतीक्ष्ण के प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि अगस्त्य कहते हैं—ब्रह्मन् ! जैसे दोनों पंखों की सहायता से ही पक्षी आकाश में उड़ने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म के अनुष्ठान से परमपद की प्राप्ति होती है। सबसे अधिक बल इस बात पर दिया गया है कि कामना का सङ्कल्प और फलासक्ति न रहे क्योंकि उससे ही बन्धन होता है—

प्रवाहपतिते कार्ये कामसकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥

(६।२-२२-५)

अर्थात् जो मनुष्य कामना तथा सङ्कल्प-विकल्प से मुक्त होकर शान्तचित्त से अवसरानुकूल कार्य करता है, वही पण्डित है।

योगवासष्ठि ने कर्त्तव्य-बुद्धि को आर्य का लक्षण माना है—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥
(६।१२६।५४)

अर्थात् सच्चा आर्य वही है जो कर्त्तव्य का पालन करता है और अकर्त्तव्य से बचकर यथोचित आचार-विचार रखता है। वह शास्त्र, आचार, चित्त और स्थिति के अनुरूप व्यवहार करता है

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥
(यो० वा० ६।१२६।५५)

अर्थात् आर्य उसे कहा जाता है जो शास्त्र, सदाचार एवं परिस्थितियों के उपयुक्त तथा मनः पूत व्यवहार करता है ।



रामचरित-मानस में कर्मयोग

रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज ने कबीर और तुलसी के सन्दर्भ में लिखा है—'हिन्दी के कवियों में तुलसीदास और कबीर के जोड़ का कवि पाना कठिन है। काशी को इस बात का गर्व है कि उसकी गोद में ये दोनों ही कवि फूले और फले और इन दोनों का ही निर्मल, निष्कलंक जीवन तथा सुन्दर कृतियाँ सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ होते हुए परस्पर कितनी सदृश, समरस और समस्वर हैं। और भी कई लेखक और कवि ऐसे हैं जो अपनी असाधरण योग्यता तथा काव्यकुशलता द्वारा हमारा ध्यान बरबस अपनी ओर खींचते हैं परन्तु जब हम उनके जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो निराशा ही हाथ आती है। भाषा का ओज उनमें खूब है, शैली में भी अपूर्व मादकता है, विद्वत्ता भी ऐसी कि सिर झुक जाय, परन्तु उनका मानव रूप और व्यक्तिगत जीवन हमारे हृदय में उनके प्रति न

विश्वास ही उत्पन्न कर सकता है और न श्रद्धा ही। गोस्वामी जी और कबीर के साथ ऐसी बात नहीं है। उनकी अमर कृतियों के द्वारा तो हम उनकी ओर खिचते ही हैं, परन्तु इससे भी अधिक उनके जीवन की सादगी और पवित्रता, उनका पावन व्यक्तित्व हमारे हृदय को, हमारे मन को हठात् मोह लेता है।'

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास की अमर काव्य-रचना है जिसे उत्तर भारत की बाईबिल कहा गया है और जिसमें भारतीय संस्कृति के शाश्वत आदर्श प्रभु राम के जीवन में ओत-प्रोत और अनुस्यूत दिखाये गये हैं। श्री रामनाथ 'सुमन' ने इस संदर्भ में लिखा है—'अपने व्यापक सौंदर्य से रामचरित मानस ने सब श्रेणियों और वर्गों को आकर्षित किया है। पण्डितों को उसने गूढ़ विचार और सरल अशिक्षित मनुष्यों को जीवित श्रद्धा प्रदान की है। कवि तथा साहित्य-रसिक उसमें काव्य का चरम आदर्श पाते हैं, नीति के पुजारियों को उसमें नीति की श्रेष्ठ व्याख्या मिलती है। हिन्दू जाति के हृदय में मानस एक अमृत स्रोत की भाँति बह रहा है।'

रामचरित मानस में कर्मयोग का प्रतिपादन बड़े कौशल के साथ हुआ है। उसमें केवल बौद्धिक विलास और भक्ति के आँसुओं की बाढ़ नहीं अपितु एक ज्वलन्त जीवन चित्रित है जो कर्मयोग के निकष पर विशुद्ध प्रमाणित होता है। वह केवल काव्य नहीं है, वह तो सम्पूर्ण मानव और नित्य मानवता का परिपूर्ण चित्र है। श्री सुमन के शब्दों में, 'मैं मानता हूं मानस आधुनिक बुद्धिवाद का आख्यान नहीं है और न वह शुष्क तार्किक स्थापनाओं का समीकरण है। वह अन्ध श्रद्धा और अन्धविश्वास का सम्वाहक भी नहीं है। उसमें कर्तव्य है पर वह आदर्श से अनुप्राणित है। उसमें श्रद्धा है पर वह विवेक से नियन्त्रित है। उसमें पाण्डित्य है पर उसके साथ सदाचरण के तत्वों की अनिवार्यता का निरूपण है। उसमें अनासक्ति है, पर वह कर्तव्य से भागने की कायरता

से कलुषित नहीं है। उसमें राज्य और भोग है, पर वह राज्य और भोग अनासक्ति एवं आत्मोत्सर्ग से परिपूर्ण है।'

कर्म का प्राधान्य

यदि हम सुख और शान्ति चाहते हैं, यदि हम स्वातन्त्र्य और सच्चा स्वराज्य चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें अपने कर्म को सुधारना होगा। कर्म में मर्यादा लाये बिना, मर्यादा का पालन किये बिना सुख-शान्ति नहीं आ सकती। इसलिए रामचरित मानस ने विग्रहवान् धर्म मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का उज्ज्वल जीवन आदर्श सभी के सम्मुख प्रस्तुत किया और विश्व को कर्म प्रधान घोषित किया—

करम प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

कर्मों का फल अनिवार्य

कायर लोग भाग्य की गुहार लगाते हैं, कर्मठ व्यक्ति पुरुषार्थ के द्वारा विजय श्री का वरण करते हैं—

कायर मन कर एक अधारा
दैव-दैव आलसी पुकारा॥

शुभ कर्मों का परिणाम शुभ होता है और असत्कर्म का परिणाम अशुभ होता है, प्रभु शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही फल की योजना करते हैं—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी।
ईसु देइ फलु हृदय विचारी॥
करइ जो कर्म पाव फल सोई।
निगम नीति अस कहि सब कोई॥

जीवन में विजय का मन्त्र

राम जीवन संग्राम में विजय का मूल कारण धर्म को मानते हैं। रावण के साथ युद्ध आरम्भ होने पर राम पैदल थे, उनके पास रथ भी

न था । विभीषण को राम की जय में सन्देह हुआ । हाथ जोड़ कर प्रीतिपूर्वक उन्होंने प्रभु रामचन्द्र से पूछ ही लिया—

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना ।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥

'नाथ ! आपके पास रथ नहीं है, पैर में जूता तक नहीं, शरीर पर कवच नहीं । आप इस बलवान शत्रु को किस तरह जीत सकेंगे ?' राघवेन्द्र ने कहा—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना ।
जेहि जय होइ सोस्यन्दन आना ।
सौरज-धीरज तेहि रथ चाका ।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम परहित घोरे ।
क्षमा कृपा समता रजु जोरे ।
ईस भजनु सारथी सुजाना ।
बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा ।
बर बिग्यान कठिन कोदण्डा ।
अमल अचल मन त्रोन समाना ।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा ।
एहि सम विजय-उपाय न दूजा ।
सखा धर्ममय अस रथ जाके ।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ।

'भक्त श्रेष्ठ विभीषण ! जिससे विजय मिलती है वह रथ ही दूसरा है । उस धर्म-रथ का एक पहिया है शौर्य और दूसरा पहिया है धैर्य ।

उस पर सत्य और सदाचार का ध्वज लगा होता है । उस रथ में बल, विवेक और परमार्थ के घोड़े जुते होते हैं जिनकी वागडोर होती है क्षमा, करुणा और समता की । उस रथ का सारथी है ईश्वर भक्ति । धर्म-योद्धा के पास वैराग्य का चर्म और सन्तोष की कृपाण होती है, दान का फरसा और बुद्धि की शक्ति होती है, विज्ञान का तरकस होता है । उसका अचल निर्मल मन ही त्रोण के सदृश है, शम, यम और नियम के विभिन्न वाण हैं, ज्ञानी गुरुओं का सत्कार उसका अभेद्य कवच है । यह संसार रिपु अजेय है । जिस कर्मयोगी के पास उक्त धर्म रथ है वही उसे जीत सकता है ।'

सुख दुःख में समानभाव

राम कर्मयोग के परम आदर्श हैं । राज्याभिषेक का समाचार सुन कर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती, वन गमन की आज्ञा से उन्हें उद्विग्नता नहीं होती । गोस्वामी जी कहते हैं—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्वुजश्रीः रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुल मङ्गलप्रदा ॥

'अभिषेक का समाचार सुनकर जिस पर प्रसन्नता व्याप्त नहीं हुई और वनवास के दुःख से जिसकी आभा मन्द नहीं हुई, भगवान् श्रीराम की वह मुखच्छवि मेरे लिए आनन्द और मङ्गल प्रदान करे ।'

राम के वनवास की खबर आग की तरह सारी प्रजा में फैल गई । जनता जानती है कि राम को राज्य की भूख नहीं है, वे धर्म धुरीण हैं और विषयों के प्रति उनके मन में जरा भी आसक्ति नहीं—

नाहिन रामु राज के भूखे ।
धरम धुरीन विषय रस रूखे ॥

भगवान् के वियोग की आशङ्का से समस्त पुरजन-परिजन व्यथित हो उठे । विधाता को अपशब्द कह कर विलाप करने लगे—

विपुल वियोग प्रजा अकुलानी ।
जनु जलचर गन सूखत पानी ।
अति विषाद वस लोग लोगाई ।
गये मातु पहि रामु गोसाईं ।।

भगवान् के चेहरे पर विषाद की रंच मात्र रेखा नहीं। उनके मुख पर सहज मुस्कान है। कवि कहता है—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान ।
छूटि जानु वन गमन सुनि उर अनंदु अधिकानु ।।

भगवान् राम के लिए राज्य उसी तरह है जिस तरह नए हाथी के लिए बाँधने का खूँटा। हाथी को जैसे बन्धन-मुक्ति की तड़प होती है और छुटकारा पाने पर राहत मिलती है, वैसा ही अनुभव श्रीराम ने किया। प्रभु ने राजसी वस्त्राभरण उतार दिये। सबका यथायोग्य सम्मान कर और आश्वासन देकर भगवान् श्री लक्ष्मण और जनकपुत्री सीता के साथ चल दिये जैसे धर्म और सत्क्रिया साथ में हों। भगवान् ने पिता के राज्य को ऐसे छोड़ दिया जैसे दो दिन अतिथि रह कर आगे बढ़ चले हों—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषण उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मगवास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई ।।
संग सुबन्धु पुनीत प्रिया मनो धर्मक्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिब लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ।।
कागर कीर ज्यों भूषन चीर शरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई ।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई ।।
संग सुभामिनि भाई भलो दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई ।
राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राजु बटाऊ की नाईं ।।

समर्पण की मूर्ति लक्ष्मण

लक्ष्मण कर्मयोग के साधक हैं। राम के वन गमन का समाचार

सुनते ही वह भी अपने को वनवास के लिए तत्पर कर लेते हैं। उनकी माता अतिशय विवेकवती हैं। उन्हें अनुमति प्रदान करती हुई कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता राम सब भाँति सनेही।
अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥
जौ पै सीय-राम बन जाहीं।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मण ने जिस निष्ठा से भाई और भाभी का अनुसरण और परिचर्या की, उसका उदाहरण संसार में दुर्लभ है। जब संसार निद्रासुख में बेसुध होता, उस समय वह वीरासन से बैठकर भाई-भाभी की रक्षा करते। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने योगी लक्ष्मण का चित्र खींचा है——

जाग रहा है कौन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है।
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥

गोस्वामीजी ने लक्ष्मण के चरित्र का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

बन्दउँ लछिमन पद जलजाता।
सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका।
दण्ड समान भयउ जस जाका॥

वह रघुपति की कीर्ति-पताका के अविचल दण्ड हैं। उनके बिना राम की कल्पना भी सम्भव नहीं।

कर्मवीर हनुमान

महावीर हनुमान ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, अतुलित बलधाम हैं, दुष्टों के नाशक हैं और स्वयं भगवान् राघवेन्द्र उनके हृदय में आठों प्रहर विराजमान रहते हैं—

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ज्ञान घन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ॥

स्वर्गीय नाथूराम शर्मा 'शङ्कर' ने श्री हनुमान जी का स्तवन करते हुए लिखा है--

सुग्रीव का सुमित्र बड़े काम का रहा ।
प्यारा अनन्य भक्त सदा राम का रहा ॥
लङ्का जलाय कालखलों को सुला दिया ।
मारे प्रचण्ड दुष्ट दिया भी बुझा दिया ॥
वह कौन हनूमान बली के समान है ?
महिमा अखण्ड ब्रह्मचर्य की महान है ।

सीता-अन्वेण के प्रसङ्ग में उनके अपार सत्त्व, पराक्रम और बुद्धि कौशल का लोहा सभी ने माना । सुग्रीव ने तो आरम्भ में ही उनकी कुशलता पर विचार प्रकट करते हुए कहा था—

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये ।
नाप्सु वा गतिभङ्गं ते पश्यामि हरि पुंगव ॥
सासुराः सहगन्धर्वाः सनाग नर देवताः ।
विदिता सर्वलोकास्ते ससागर धराधराः ॥

(वाल्मीकि० ४।४४।३-४)

'कपि श्रेष्ठ ! तुम्हारी गति पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देव लोक और सागरों में कोई भी नहीं रोक सकता । तुम्हें देव, असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य सहित उनके समस्त लोकों और पर्वतों का ज्ञान है ।'

सागर के तट पर पहुंच कर समस्त वानर शोकाकुल बैठे हैं, सीता जी का कोई पता नहीं मिला है । सम्पाति से बातचीत करने पर पता मिला है कि लङ्का में हैं । अङ्गद के पूछने पर सभी अपने सामर्थ्य का परिचय देते हैं किन्तु निरभिमान हनुमान चुप हैं । जाम्ववान् कहते हैं-

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्वञ्च हरिपुंगव ।

विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे ।।
(वा० रा० ४।६६।७)

'हरिपुंगव ! तुम्हारे अन्दर सब प्राणियों से बढ़ कर बल, बुद्धि, तेज और धैर्य है, फिर तुम अपना स्वरूप क्यों नहीं समझते ?'

गोस्वामी जी कहते हैं—

पवन तनय बल पवन समाना ।
बुधि विवेक विग्यान निधाना ।।
कौन सो काज कठिन जग माहीं ।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाही ।।
राम काज लगि तव अवतारा ।
सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ।।

अध्यात्म रामायण में हनुमान जी इस प्रसङ्ग पर आत्मविश्वास पूर्वक कह उठते हैं—

लघयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्का च भस्मसात् ।
रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम् ।।
यद्वा वध्वा गले रज्ज्वा रावण वामपाणिना ।
लंका सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम् ।।
(४।६।२२-२३)

'वानरो ! तुम कहो तो मैं समुद्र लाँघ कर लंका को भस्म कर डालूँ और सीता को ले आऊँ या रावण के गले में रस्सी डालकर और बाँये हाथ से त्रिकूट पर्वत के साथ लङ्का को उठाकर राम के सामने ला पटकूँ ?'

ध्येय-निष्ठा

समुद्र लंघन के अवसर पर वानरेन्द्र हनुमान ने जिस पर्वत पर पैर रखा वह धँसता चला गया । अमोघ रामबाण की तरह वह त्वरित गति से लक्ष्य की ओर बढ़ चले । मैनाक पर्वत ने जब विश्राम की प्रार्थना

की तो कर्मयोगी हनुमान ने कार्य सिद्धि से पूर्व विश्राम करने में असमर्थता व्यक्त की--

जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता ।
चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता ।।
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना ।
ताही भाँति चला हनुमाना ।।
जलनिधि रघुपति दूत विचारी ।
तैं मैनाक होइ श्रम हारी ।।
हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
रामकाजु कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम ।।

अभिमान्य शून्यता

लंका-दहन के पश्चात् जब हनुमान जी राम के समीप पहुँचे तो श्रीराम ने कहा—'कार्य श्रेष्ठ ! रावण द्वारा रक्षित और दुर्गम दुर्ग वाली लङ्का को तुमने कैसे जला दिया ?' श्री हनुमान ने कितना विनम्र उतर दिया—

सो सब तव प्रताप रघुराई ।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।।

'इस सब में आपका प्रताप ही मुख्य कारण है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं ।'

कर्मयोगी का आदर्श

यह संसार कर्मभूमि है । स्वयं भगवान् महाकर्मा हैं । वे इस ब्रह्माण्ड-गृह के महागृहस्थ हैं । स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों से युक्त इस महापरिवार में जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता है,

उसको वह वस्तु ठीक ढँग से प्रदान करने का प्रबन्ध भगवान् सदैव करते हैं। श्री अश्विनीकुमार दत्त के शब्दों में, 'इस संसार में कर्म के बिना कोई ठहर नहीं सकता। आत्म-रक्षा और जगद्रक्षा के लिए सभी कर्मचक्र में घूम रहे हैं। निष्काम कर्म योग के सिवा हमारे उद्धार का और कोई मार्ग नहीं है। जातीय उत्थान-पतन कभी कर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकता। भारतवर्ष जबसे निष्काम कर्म के उच्च आदर्श को भूल गया, तभी से इस देश की अधोगति आरम्भ हुयी। कर्म को अन्तर्मुख कर लेने पर जैसे उसके द्वारा बाहरी मंगल भी साधित होता है। कर्मकुण्ठ, अकाल सन्यासी और कर्मासक्त घोर विषयी—किसी के लिए भी यह धारणा का विषय नहीं।'

काण्ट ने कहा है – 'कर्म इस प्रकार करो कि तुम्हारे कर्म का मूल सूत्र सार्वभौम विधि के रूप में ग्रहण किया जा सके।' जोसेफमेसिनी ने अपने कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए कहा था—'तुम परिवार या राष्ट्र के लिए जो काम करने जा रहे हो, उस प्रत्येक कार्य के पहले अपने से पूछो, मैं जो करने जारहा हूं, वह यदि सभी लोग करते तथा सब के लिए किया जाता तो उसके द्वारा समस्त मानव समाज का लाभ होता या हानि ? यदि तुम्हारा विवेक कहता है कि हानि होती तो उस कार्य को मत करो, यदि उसके द्वारा स्वदेश तथा स्वपरिवार का प्रत्यक्षरूप से कोई लाभ भी होता हो तब भी उस कार्य को मत करो।'

सफलता प्राप्त करने के लिए, समृद्धिशाली बनने के लिए अपने कार्य, दैनन्दिन व्यवहार और शरीर तथा पुट्ठों को कर्मयोग की प्रयोगाग्नि में दहन करना पड़ता है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—'अपने शरीर और मन को कर्म की सलीब पर चढ़ाओ, कर्म करो, और तभी आपके भीतर प्रकाश का प्रस्फुटन होगा। शरीर निरन्तर काम में लगा रहे और मन आराम तथा प्रेम में डूबा रहे, तो आप यहीं इस जीवन में पाप और ताप से मुक्ति पा सकते हैं। ईश्वर आपके द्वारा कर्म करने

लगे, फिर आपके लिये कर्त्तव्य-जैसी कोई चीज न रहेगी। ईश्वर आपके भीतर से चमकने लगे, ईश्वर आपके द्वारा प्रकट हो, ईश्वर में ही रहिये-सहिये, ईश्वर को ही खाइये और पीजिये, ईश्वर में श्वास लीजिए और सत् का साक्षात् कीजिए। शेष काम अपने आप होते रहेंगे। राम आपसे कहता है, अपना कर्त्तव्य करो पर न कोई प्रयोजन हो और न कोई इच्छा। अपना काम भर करो, काम में ही रस लो, क्योंकि काम स्वयं सुखरूप है, क्योंकि ऐसा काम ही साक्षात्कार का दूसरा नाम है।'

लक्ष्य की धुन

कर्मयोगी सिद्धि से पहले – लक्ष्य-प्राप्ति से पूर्व-बीच रास्ते में रुकते नहीं हैं, अन्यायी के समक्ष सिर झुकाना नहीं जानते और किसी भी मूल्य पर अपने लक्ष्य का परित्याग नहीं करते—

सिद्धि से पहले कभी जो बीच में रुकते नहीं।
जो कभी दबकर किसी के सामने झुकते नहीं॥
जो हिमालय से अटल हैं, सत्य पर हिलते नहीं।
आग पर चलते हुए भी जो चरण जलते नहीं॥
उन पगों के रज-कणों का नाम केवल जिन्दगी है।
विश्व में परिवर्तनों का नाम केवल जिन्दगी है॥

उनके लिए जीवन गतिशीलता का दूसरा नाम है। कर्मयोगी पौरुष का उपासक है और कर्म से जीवन का शृङ्गार करता है—

जीवन गति का नाम, धाम से जिसको काम नहीं।
जीवन है वह पंथ कि जिस पर यति-विश्राम नहीं॥
जीवन है पाथेय समय के अविचल राही का।
जीवन है बल कुरुक्षेत्र के थके सिपाही का॥
पौरुष के माथे पर श्रम का बाना जीवन है।
जीवन है शृङ्गार कर्म का, तप की गीता है॥

जीवन है वह घट जो अक्षय जल पी रीता है।
जीवन उसका अनुगत जिसने उसको जीता है॥
जीवन उसका स्वामी जिसका यौवन बीता है।
सगर-सुतों पर सुरसरि-धार बहाना जीवन है॥

क्षुरस्य धारा

आपदाओं के अग्नि-पथ पर वह ठिठकता नहीं, दैन्य का अभिशाप उसे तोड़ नहीं पाता। प्रलय कालीन झंझानिल में भी वह घबराता नहीं और संघर्षों के तुमुल कोलाहल में भी गीत गाता रहता है—

आपदा के अग्नि-पथ पर जो कभी रुकना न जाने।
दैन्य के अभिशाप में भी जो कभी झुकना न जाने॥
प्रलय झंझावात में भी भँवर में फँसना न जाने।
गीतमय जीवन बनाले, गीत को ही धर्म माने॥
गा सके संघर्ष में हँसकर सदा जो स्वर वही है।
जो हिमालय-सा उठे जीवन-धरा पर नर वही है॥

माता कुन्ती ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हम पर सदैव कष्ट आते रहें क्योंकि वे कष्ट ही आपका स्मरण कराते रहते हैं। कर्मयोगी ईश्वर से यह नहीं चाहता कि उस पर कभी मुसीबत न आये, बल्कि वह संकटों को सहन करने के लिए शक्ति की याचना करता है—

है न किञ्चित् चाह मेरे संकटों को दूर करदो।
जिन्दगी की मांग में सुख-शान्ति का सिन्दूर भरदो॥
संकटों को झेलने की शक्ति का वरदान पायें।
ताकि हम हँसते हुये भवसिन्धु से उस पार जायें॥

संकटों को चुनौती

आत्मविश्वास कर्मयोगी की अक्षयनिधि है जिसके बल पर वह सनसनाती आँधियों, तमतमाती बिजलियों, विषधरों और प्रलय को भी चुनौती दे देता है—

ओ आँधियो ! तुम न सनसनाओ,
निशंक हमने दिया जलाया,
प्रभंजनों की चुनौतियों पर ।
पवन झकोरों के पालने में
खिलाई नवज्योति की कलायें
प्रकाश पल-पल प्रखर हुआ है
घिरी हैं जब-जब तिमिर-घटायें
ओ बिजलियों तुम न तमतमाओ,
खुली डाल पर नीड बनाया,
अनल-घनों की चुनौतियों पर ।
अपार विष हम पचा चुके हैं
धरा को उससे बचा चुके हैं
हमारे कुरुक्षेत्र को पता है।
प्रलय-स्वयम्वर रचा चुके हैं
कुवृत्तियों ! तुम न कुमसुनाओ,
अनय का हमने नशा उतारा,
अधम जनों की चुनौतियों पर ।
दुशासनों के पते नहीं हैं
मिटा असुरता का दर्प सारा
मिली धूल क्रूरता कंस की
मनुष्यता को सदा उबारा
ओ विषधरो ! तुम न फनफनाओ,
कन्हैया को नाचना सिखाया,
उठे फनों की चुनौतियों पर ।

कर्मयोगी का मार्ग प्रकाश का है, उसका लक्ष्य है अँधेरे का विनाश, उसके हृदय में सभी के मंगल का भाव रहता है और उसके

हर चरण में विकास निहित रहता है। जब प्रलय चुनौती देती है तब वह नई सृष्टि का बिगुल फूँकता है—

हमारा पथ तो प्रकाश का है
ध्येयतिमिर के विनाश का है
सभी का मंगल लिये हृदय में
हमारा हर पग विकास का है
हमें न रण-दुन्दुभी सुनाओ,
नये सृजन का बिगुल बजाया,
प्रलय-क्षणों की चुनौतियों पर।

कर्मयोगी की भुजाओं में शक्ति का सागर हिलोरें लेता है, उसकी गर्जना से पहाड़ों के कलेजे हिलने लगते हैं, उसकी भुजायें नभ के विपुल विस्तार को छोटा बना देती हैं और उसके पग अतल गहराइयों की माप करते हैं। कर्मयोमी धरती को सजाते हैं, बिमल कर्त्तव्य का भण्डार भरते हैं, नये संकल्प का शंख फूंकते हैं और नूतन निर्माण का असीम सामर्थ्य प्रमाणित करते हैं—

तुम्हारी बाहुओं में शक्ति का सागर मचलता है।
तुम्हारी गर्जना से भूधरों का दिल दहलता है॥
तुम्हारे कर गहन विस्तार नभ का नाप लेते हैं।
तुम्हारे पग अतल गहराइयों को भाँप लेते हैं॥

कर्मयोगी बादल की तरह प्यार बरसाता है, फूल की तरह सद्गुणों का सौरभ लुटाता है, उसके हृदय में करुणा का समुद्र तरंगित होता है—

मेघ सा झर-झर बरस जो नेह से जग सिक्त कर दे,
फूल-सा खिल, सुरभि बिखरा जो स्वयं को रिक्त कर दे।
देवता पत्थर नहीं है, मनुज में ही देवता है,
आँसुओं के अर्घ्य से जो मनुज को अभिषिक्त कर दे।

वह स्वयं विष पीता है किन्तु दूसरों को सुधा पिलाकर

जीवन-दान देता है । श्रम उसका आभूषण है । वह जिधर निकल जाता है, जागृति का प्रकाश उधर फैल जाता है —

जो सदा श्रम-सीकरों से मोतियों को तोलता हो ।
स्वयं हँसकर पी हलाहल निज सुधारस घोलता हो ।।
तप्त सूरज की किरण से जागरण की ज्योति लेकर ।
मौन करुणा के स्वरों में मनुजता से बोलता हो ।।

सत्य-निष्ठा

क्रान्तिकारी सत्य के लिए हर बलिदान देता है । सत्य कर्मयोगी का इष्ट देवता है । बग-भंग से क्षुब्ध होकर 'वन्देमातरम्' ने ब्रिटिश सत्ता की धज्जियाँ उड़ा दीं । २६ अगस्त १६०७ ई० को उस पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया जिसमें विपिन चन्द्रपाल को सरकारी गवाह माना गया । पाल से जब शपथ लेने को कहा गया तो उन्होंने कहा-मुझे इस मामले में विवेकगत आपत्ति है ।'

मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड ने क्रुद्ध होकर कहा--'सच्ची शपथ लेने में क्या आपका विवेक बाधा देता है ? इस मामले में आपको शपथ लेनी होगी ।'

विपिनचन्द्र ने कहा--मैं अस्वीकार करता हूं ।

उन पर अदालत की अवमानना का स्वतन्त्र मुकदमा लाद दिया गया । विपिन बाबू ने लिखा है—'निःसन्देह समाज के प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य है कि वह न्याय की व्यवस्था के लिए प्रशासन की सहायता करे ताकि समाज स्वस्थ रहे । परन्तु जब अभियोगों को प्रशासनिक नीतियों से प्रोत्साहन मिलता हो, न्याय बाहरी तत्त्वों से प्रभावित होता हो, वहाँ व्यक्ति का विरोध करना आवश्यक है । मेरा ईमानदारी से विश्वास है कि 'वन्देमातरम्' पर लगे अभियोग बिल्कुल अन्यायपूर्ण और अनुचित हैं क्योंकि वे मानव अधिकारों को नष्ट करने वाले हैं, अन्यायपूर्ण इसलिए हैं क्योंकि उनसे विचार और भाषण की

स्वतन्त्रता का गला घोंटा जाता है, इन अभियोगों का उद्देश्य जन-शान्ति की स्थापना नहीं है, इसलिए इस अभियोग में भाग लेने में मुझे विवेकगत आपत्ति है।' उन्हें इस अपराध पर छः मास का कारावास मिला। विपिन बाबू के मुकदमे के दिन अदालत में बहुत भीड़ थी। पुलिस का एक सार्जेण्ट जनता को भगाने के लिए जोर-जुल्म करने लगा। इस उद्धत सार्जेण्ट को राष्ट्रीय विद्यालय के एक सत्रह वर्षीय किशोर छात्र ने वहीं अदालत में घूंसा मार दिया। किंग्सफोर्ड ने सुशील को बेंत मारने की सजा दी। कवि ने गाया—

आमाय बेंत मेरे कि मा भूलावि
आमि कि मार सेई छेले ?
देखे रक्तारक्ति बाड़वे शक्ति
के पालावे मा फेले ?
याय येन जीवन चलो।

[क्या मैं माँ का ऐसा लड़का हूं, जो बेंत लगने से माँ को भूल जाऊँगा ? रक्तारक्त देखकर तो और शक्ति बढ़ेगी। माँ को छोड़कर कौन भाग जाएगा, भले ही जीवन क्यों न चला जाए ?]

जहाँ वन्दना के बोल गूँजते हैं, 'वहीं उसका स्वर उठता है, जहाँ देश के लिए बलिदानी सिर कतार में लगे हैं, वहीं वह भी अपनी भेंट लेकर खड़ा है—

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
हों जहाँ बलि शीश अगणित एक सिर मेरा चढ़ा लो॥

वज्र की दृढ़ता

पराजय से वह निराश होने वाला नहीं, वह जय-पराजय की चिन्ता से मुक्त होकर कर्त्तव्य-पथ पर डटा रहता है। शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने लिखा है—

वरदान मांगूंगा नहीं।
यह हार एक विराम है, जीवन महा संग्राम है॥

•

तिल-तिल मिटूंगा पर दया की भीख मैं लूं नहीं ॥
क्या हार में क्या जीत में किंचित् नही भयभीत मैं ।
संघर्ष पथ पर जो मिले, यह भी सही, वह भी सही ॥
चाहे हृदय को ताप दो चाहे मुझे अभिशाप दो ।
कुछ भी करो, कर्त्तव्य-पथ से किन्तु भागूंगा नहीं ॥

कर्मयोग की लालसा फल में नहीं । वह किसी से कृपा की भीख नहीं मांगता और न पीठ दिखा कर कर्म के कुरुक्षेत्र से पलायन करता है । वह सुख और दु:ख-दोनों का मुक्त मन से स्वागत करता है । वह सवेरे की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रहता, अन्धकार में अपना मार्ग बनाता है, ताप को हृदय में सहेजे जलता रहता है और उसकी साधना दिन को लाने में सफल होकर रहती है—

पूछो न प्रात की बात, आज आंधी की राह चलो ।
जाते रवि ने फिर देखा क्या भर चितवन में
मुख-छवि विम्बित हुई कणों के हर दर्पण में
दिन बनने के लिये तिमिर को भर कर अंक जलो ॥

एकला चलो

मार्ग अनजाना है । कर्मयोगी अकेला ही पथ पर निकल पड़ा है । अमावस की अँधेरी रात में हाथ को हाथ नहीं सूझता । रिमझिम बूँदें पड़ रही हैं । बिजली कौंध जाती है । चरण शूलों से बिंध गये हैं किन्तु पथिक ने लक्ष्य तक पहुंचने का सङ्कल्प ले लिया है—

पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला !
घेर ले छाया अमा बन
आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन,
और होंगे नयन सूखे
तिल बुझे औ' पलकरूखे
आर्द्र चितवन में यहाँ

•

शत विद्युतों में दीप खेला।
अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते दे शूल को सङ्कल्प सारे
दुखव्रतों निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बांध देंगे अंक—संसृति
से तिमिर में स्वर्ण-वेला

कर्मयोगी के भ्रूभगों से प्रलय नृत्य की शिक्षा ग्रहण करता है, उसकी वाणी काल को गतिमान करती है, उसमें सिन्धु तरंगों से अधिक उमंग है और आकाश से अधिक उदारता उसके हृदय में है—

तेरे भ्रूभंगों से सीखा करता है प्रलय नृत्य करना
तेरी वाणी से सीखा करता काल ताल अपनी भरना
तेरी उमग से सिधु तरगे सीखा करती हैं उठना
तेरे मानस से सीखा करता गगनांगन विशाल बनना

विजयदेव नारायण साही का कर्मयोगी समस्त कामनाओ को कुचल कर अपराजेय भाव से खड़ा है—

ओरे गर्वीले
तूने आहत अभिमान पूर्ण
चरणों से झेल लिया पंथ की पिपासा को
जब-जब बवण्डरों से उड़ने को पृथ्वी हुई
तूने हठी साहस से रोप दिये पाँव
बांधी वज्र-मुट्ठियों में छूटती तृषा की रास
रोक दी पछाड़ें बन्द होठों के कगारों से
रुका नहीं
विक्षत सामर्थ्य की पुकारों पर झुका नहीं
आतप में बूंद-बूंद छीजा पर चुका नहीं।

दुःखों में अनुद्वेग और विनोद

कर्मयोगी को दुःख उद्विग्न करने में असमर्थ रहते हैं। लोकमान्य तिलक अपने कार्यालय में किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार कर रहे थे। चपरासी ने एकाएक सूचना दी कि उनका बड़ा पुत्र, जो कई दिनों से अस्वस्थ था, गम्भीर रूप से बीमार है। थोड़ी देर बाद एक सहयोगी ने भी पुत्र की गम्भीर दशा की ओर तिलक का ध्यान आकर्षित किया। प्रश्नोत्तरों से कार्य में बाधा पड़ते देखकर तिलक ने कहा—'उसे देखने के लिए डाक्टरों से कह दिया है। मैं जाकर क्या करूंगा।' साथी वापस चला गया। शाम को तिलक घर पहुंचे तक लड़का परलोक को चुका था। कपड़े उतार कर वे उसको महायात्रा की तैयारी में जुट पड़े।

२३ जुलाई १९१६ ई० की घटना है। लोकमान्य माण्डले कारागार से छूट गये थे। उनके कुछ सहयोगियों ने उनकी हीरक-जयन्ती का उपक्रम किया। आयोजन गायकवाड़े में किया गया था। सभी-लोग प्रसन्नता के सागर में डूब-उतरा रहे थे। तभी पुलिस-अधीक्षक ने उन्हें इस आशय का एक नोटिस थमा दिया—'आपके अहमद नगर और बेलगाँव में दिये गये भाषण राजद्रोहात्मक हैं, इसलिए एक वर्ष तक नेकचलनी का बीस हजार का मुचलका और दस-दस हजार की दो जमानतें आप से क्यों न ली जायँ ? तिलक ने नोटिस ले लिया और फिर सभी के साथ कुशलवार्ता आदि में पूर्ववत् लग गये।

लोकमान्य का स्वभाव बड़ा विनोदी था। उनका एक मुकदमा हाईकोर्ट में चल रहा था। उनके बैरिस्टर को आने में थोड़ा विलम्ब हुआ। दो अन्य बैरिस्टर-मित्र लोकमान्य के निकट पहुंच कर बोले—'आपके बैरिस्टर के आने में विलम्ब हो रहा है, हम दोनों आपकी सहायता के लिए प्रस्तुत हैं।'

तिलक ने हँसते हुए कहा—'किसी सोलह वर्षीय कन्या के

लिए बीस-बाईस साल के युवक की जगह दस-दस साल के दो किशोर वर क्या चल सकते हैं ?' हाईकोर्ट में हँसी की लहर फैल गयी। स्थित-प्रज्ञता की यह स्थिति समता द्वारा उपलब्ध होती है। कर्मयोगी द्वन्द्वातीत हो जाता है, वह सफलता-असफलता, जय पराजय और हानि-लाभ को समदृष्टि से देखता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि जिन बाह्य लक्षणों से मनुष्य जागतिक घटनाओं के प्रति अपनी मनोवृत्ति का रुख निश्चित करते हैं वे उसको दृष्टि में गौण और यान्त्रिक होते हैं। वह उनकी उपेक्षा नहीं करता किन्तु उनसे परे रहता है। शुभ और अशुभ का भेद कामनाग्रस्त मनुष्य के लिए सबसे बड़ी चीज है, पर निष्काम आत्मवान् पुरुष के लिए शुभ और अशुभ—दोनों ही एक से ग्राह्य हैं क्योंकि इन दोनों के सम्मेलन से ही शाश्वत श्रेय के विकासशील रूप निर्मित होते है। मनुष्यों से मिलने वाले मान-आपमान या निन्दा-स्तुति का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ता क्योंकि उसके कार्य का निर्णायक निर्मल-बुद्धि-सम्पन्न कोई और ही है और उसके कार्य का पैमाना भी अलग है और उसका प्रेरक-भाव सांसारिक पुरस्कार पर जरा भी निर्भर नहीं है। कर्मयोगी केवल यह देखता है कि विकासशील धर्म की रक्षा या अभ्युदय के लिए आवश्यक वह कौन-सा कर्म है जो परमात्मा मुझसे कराना चाहते हैं। उसका निजी स्वार्थ तो कुछ है नहीं, न किसी से उसे व्यक्तिगत राग-द्वेष है, न उसके पास कर्म विषयक रूढ़ मानदण्ड है जो उत्थानोन्मुख मानव गति में अड़चन पैदा कर दे या अनन्त की पुकार के विरुद्ध खड़ा हो जाय। वह शरीर से जीवित रहने को भी इतनी बड़ी चीज नहीं मानता बल्कि शरीर से परे जो आत्म जीवन मानता है और शरीर को केवल एक उपकरण समझता है।

ईश्वर विश्वास

कर्मयोगी सर्वत्र ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति करता है, फलतः उसे कहीं भय का अनुभव नहीं होता। वह सारे जगत् को सिया-

राम-मय समझता है। हर स्थान और परिस्थिति में उसे भगवदनुभूति होती है—

देख दुखों का वेष धरे, मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
जहाँ दु:ख, तहाँ देख तुम्हें पकड़ूँगा मैं जोरों के साथ॥

वह यह नहीं मानता कि संसार किसी अन्धी शक्ति के हाथों सञ्चालित हो रहा है और यह जन्म ही पहला और अन्तिम जन्म है। वह दिव्य सत्ता के न्याय और प्रेम में पूरा विश्वास रखता है तथा स्वयं को उसकी मर्जी पर छोड़ कर मस्त रहता है। वह किसी से कोई प्रत्याशा नहीं रखता, सिर्फ ईश्वर का भरोसा करता है।

ईश्वर के हाथ का यन्त्र

कर्मयोगी स्वयं को लीलामय प्रभु के हाथ का एक यन्त्र मान कर वैयक्तिकता से मुक्त हो जाता है। वैयक्तिकता का आशय है 'अहम्'। निष्कामता का अर्थ है कामना-शून्यता। 'अहम्' और कामना के विनाश से समर्पण—आत्म निवेदन आता है और व्यक्ति सब ओर से मन को समेट कर प्रणतिशील हो जाता है। श्रीपति अकबर के दरबारी कवि थे। स्वभावत: कुछ लोग उनसे जलते थे। सबने मिल कर श्रीपति को नीचा दिखाने की युक्ति सोची और बादशाह से कहा कि श्रीपति कभी आपकी प्रशंसा ही नहीं करता। उन लोगों ने पूर्ति के लिए एक समस्या रखी—'करौ मिलि आस अकबर की।' सबने सोचा-देखें श्रीपति अब क्या करते हैं! दूसरे दिन अन्य कवियों ने जी खोल कर अकबर की प्रशंसा के पुल बाँधे मगर श्रीपति ने पढ़ा—

अबके सुलतां फनियान समान हैं बाँधत पाग अटब्बर की।
तजि एक को दूसरे को जो भजै, कटि जीभ गिरे वा लब्बर की॥
सरनागत श्रीपति रामहिं की, नहीं त्रास है काहू जब्बर की।
जिनको हरि में परतीति नहीं सो करौ मिलि आस अकब्बर की॥

जो किसी का आश्रय तकता है, वह ईश्वर के अभिमुख कैसे हो

सकता है ? जब तक जगत् का भरोसा बना रहता है तब तक वास्तविक समर्पण कैसे आ सकता है ? एक सम्राट बहुत दानी था । सर्वत्र उसकी कीर्ति फैली हुई थी किन्तु उसके अहकार का कोई ठिकाना न था । उसका एक मित्र था, धनपति किन्तु कंजूस । दोनों बूढ़े हुए । एक में अभिमान था और दूसरे में आत्मग्लानि । कंजूस ने सद्गुरु के समीप पहुंच कर व्यथा सुनायी । सद्गुरु ने कहा— जाओ, दीन और दरिद्र होकर आना ।' वह व्यक्ति धन लुटा कर आया और बोला-गुरुदेव ! अब आप ही एक मात्र आश्रय हैं सद्गुरु ने उस बियावान जङ्गल में अँधेरी रात में धनपति को धक्के देकर निकलवा दिया और झोंपड़ी का द्वार बन्द कर लिया ।

धनपति सब ओर से निराश्रित होकर एक पेड़ नीचे सो रहा । वह सवेरे उठा तो परमात्मा में डूबा हुआ था । गुरु भागते हुए आये और अपने हृदय से लगा कर बोले—धन छोड़ना आसान है किन्तु त्याग का अहकार छोड़ना बहुत कठिन है । संसार छोड़ना सरल है, पर गुरु छोड़ना कठिन है । जो गुरु को भी छोड़ सकता है, वही परमगुरु को पाता है । आश्रय चाहे धन का हो, चाहे त्याग का, आत्मग्लानि का आश्रय हो या अहंकार का, संसार का आश्रय हो चाहे संन्यास का, वस्तुः जहाँ आश्रय है, वहीं परमात्मा को पाने का अवरोध है । अन्याश्रय टूटते ही परमाश्रय उपलब्ध होता है । मैं धन में आश्रय खोजूँ या त्याग में. जब तक मैं आश्रय खोजता हूं, तब तक मैं अहंकार की रक्षा ही खोजता हूं । आश्रय छोड़ते ही भगवत्प्राप्ति और भगवदाश्रय की उपलब्धि होती है ।'

कर्मयोगी जानता है कि लौकिक सहारे विश्वसनीय नहीं । इसीलिए वह किसी से किसी चीज की प्रत्याशा या अपेक्षा नहीं रखता है । वह उसके सामने हाथ फैलाता है जहाँ से कोई खाली हाथ नहीं लौटता । निष्ठा पक जाने पर तो वह परमातमा से भी नहीं माँगता । परमेश्वर स्वयं ही उसके योगक्षेम को चिन्ता करते हैं ।

जीवन का मैंने सौंप दिया सब भार......

स्वामी शिवराम किंकर योगत्रयानन्द स्वामी विवेकानन्द जी के विद्यागुरु थे। त्यागी, संन्यासी, सन्त अनेक हैं किन्तु स्त्री-पुत्रादि के साथ गृहस्थाश्रम में रहकर भगवान् पर सर्वतोभावेन निर्भर रहने पर भगवान् उस भक्त के अभावों को किस प्रकार दूर करते हैं, स्वामी जी का जीवन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। बाहर नगर में कलकत्ते से उत्तर दिशा में स्वामी जी रहा करते थे। स्वामी जी एक कोठरी में कम्बल बिछाकर सदैव ग्रन्थादि देखा करते थे और साधन-भजन के समय दरवाजा बन्द कर लेते। दोपहर को एक बार दरवाजा खोलते भोजन कोई दे जाता तो खा लेते नहीं तो फिर दरवाजा बन्द करके अपने काम में लग जाते।

एक बार घर में अन्न नहीं रहा। साध्वी स्त्री ने किसी प्रकार दो-तीन दिन तो काम चलाया परन्तु अन्त में उसके पास कुछ नहीं रहा इसी समय सतीशचन्द्र नामक युवक ने स्वामी जी की सेवा करनी चाही। वह युवक भी वराहनगर में ही रहता था। वह शिक्षित युवक था। पूर्वजन्म के संस्कार-वश वैराग्य का उदय होने से उसने सेवाव्रत लिया था। स्वामीजी के घर में कुछ नहीं था। न एक भी पैसा था। बच्चे आहार के लिए रो रहे थे। ब्राह्मणी को इतना साहस नहीं था कि महाराज श्री से निवेदन करतीं। ऐसी स्थिति में सतीश आया और उसकी लायी हुई सामग्री से रसोई बन गई। सतीश इसी प्रक र उधार करके सामग्री लाने लगा। सन्ध्या के समय दो-चार सज्जन स्वामी जी से शास्त्रादि सुनने और शंका-समाधान करने आते, उन्होंने स्वामी जी से कहा—'आप चिकित्सा के द्वारा कुछ उपार्जन करने लगें तो अच्छा रहे।' स्वामी जी ने कह दिया—'भगवान् की सेवा के सिवा हम कुछ भी नहीं करना चाहते। भगवान् खाने को देंगे तो खायंगे, नहीं तो सब लोग उपवास करके रहेंगे।'

एक दिन ऐसा हुआ कि घर में कुछ भी नहीं रहा। रसोई नहीं बनी। बच्चों ने भी कुछ नहीं खाया। इतने में ही कालीकृष्णदत्त नामक एक सज्जन दौड़े आये और स्वामीजी के चरणों में दो रुपये रख कर प्रणाम किया। पूछने पर बोले—'मैं अपने कार्यालय में काम कर रहा था, दो बजे के लगभग हठात् हवा में से मेरे कान में यह आवाज आयी कि तुम जिनको अपना गुरु मानते हो वे आज सपरिवार भूखे हैं। मैं सहम गया और उसी समय मालिक से छुट्टी लेकर यहां चला आया।' इस प्रकार प्रभु अपने ऊपर निर्भरशील भक्त के योग क्षेम का निर्वाह करते हैं।

योगक्षेमं वहाम्यहम्

नामदेव भगवान् की भक्ति में इतने लीन रहने लगे कि उन्हें घर परिवार की सुधि भी न रही। घर दाने-दाने को मुहताज हो गया। पड़ोसी व्यंग्य करते और माता गोणाई को भी बड़ा कष्ट होता। इस सबसे खिन्न होकर नामदेव पण्ढरीनाथ के द्वार पर जाकर सजल नेत्रों से प्रार्थना करने लगे। माता भी किसी से कुछ माँगने-जाँचने निकल पड़ी।

इसी बीच एक सेठ आया। नामदेव का पता पूछते-पूछते उसे घर मिला। पड़ोसिनें दौड़ी आईं और बोलीं—'अतिथि आये हैं, आव-भगत करो न।' राजाई बड़े संकट में पड़ गई। सेठ ने राजाई को पुकार कर कहा—'नामदेव मेरा बचपन का साथी है। मुझे पता चला है कि वह भगवद्भक्ति में मस्त रहता है, इस लिए मैं मिलने चला आया। उसकी भाभी ने कुछ सामान दिया है, उसे रख लीजिये। बस, इतना काम है।' सेठ चला गया। नामदेव की पत्नी ने पोटली खोली तो उसमें अशर्फियाँ बँधी हुई निकलीं। उसने कुछ अशर्फियों से सामान खरीदा। और विविध पकवान बनाने में जुट गयी। नामदेव माँ के साथ जब लौटे तो धूमधाम देख कर विस्मित रह गये। राजाई ने उनके

सहपाठी का सारा वृत्तान्त सुना दिया । नामदेव को रहस्य समझते देर न लगी । उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे !

मरण का भय नहीं

कर्मयोगी को यज्ञ और तप के भोक्ता, सर्वलोक महेश्वर तथा प्राणिमात्र के शुभ चिन्तक मित्र, माता, पिता और बन्धु परमात्मा का एकमात्र सहारा रहता है । मिश्र के हिलेरियो सन्त एण्टोनी के दर्शन करने मरुस्थल में गये और वहीं दो महीने रहे घर लौटने पर उन्हें अपने माता-पिता की मृत्यु का सम्वाद मिला । पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही अपना सर्वस्व दरिद्रों को लुटा कर पुन: घर से निकल पड़े ।

उन्होंने मरुस्थल में रहने का निश्चय किया जो समुद्र तट से अधिक दूर नहीं था और जहाँ डाकू दिन-दहाड़े यात्रियों को लुटकर मार डालते थे । कुछ अपरिचित व्यक्ति उनसे पूछने लगे—'यदि आपको इस मरुभूमि में कोई मार डाले तो आप क्या करेंगे ? यदि चोर-डाकू आपसे छेड़-छाड़ करें तो कैसा व्यवहार करेंगे ?'

सन्त ने उत्तर दिया—'गरीब और नंगे भूखे किसी से नहीं डरते ।'

'पर वे आपको जान से मार सकते हैं ।' लोगों ने कहा ।

हिलेरियो ने उत्तर दिया—'मुझे भगवान् का भरोसा है । मुझे किसी से भय नहीं । मृत्यु के लिए मैं सदैव प्रस्तुत हूं ।'

न कोई ऊंचा न नीचा

लगभग पचास वर्ष पूर्व की बात है । मध्याह्न काल के सूर्य भगवान् प्रचण्ड अग्नि बरसा रहे थे । उपासनी महाराज उस कड़ी धूप में भोजन की थाली लेकर साईं बाबा के पास जा रहे थे । अचानक उन्होंने रास्ते में काला कुत्ता देखा किन्तु उपासनी महाराज यह सोचकर आगे बढ़ गये कि गुरु को भोजन समर्पित करने के बाद ही इसे खिलाना उचित है ।

'तुम्हें इतनी कड़ी धूप में आने की क्या आवश्यकता थी ? मैं तो रास्ते में ही खड़ा था।' उपासनी महाराज पश्चात्ताप करने लगे। दूसरी बार भूखे शूद्र को अनदेखा कर वह भोजन लाये। साईं बाबा ने कहा—'तुमने आज फिर व्यर्थ कष्ट किया। मैं तो मन्दिर के समीप ही खड़ा था। भगवान् कुत्ते और शूद्र–सबमें है, घट-घट में व्याप्त है। उस घट-घट वासी को मानो और पहिचानो।'

हरि व्यापक सर्वत्र समाना

पंढरपुर की कार्तिक-यात्रा का मेला लगा था। अनेक साधु-सन्त पधारे थे। एकादशी का निर्जल उपवास करके द्वादशी के दिन पारणा के लिए सभी उतावले दिखाई पड़ रहे थे। कोई आटा गूँदता, कोई रोटी बनाता कोई रसोई बनाकर भगवान् को भोग लगाता। इसी बीच वहाँ एक काला कुत्ता आ पहुंचा। अत्यन्त भूखा होने के कारण वह कहीं किसी के आटे में मुँह डालता, किसी की थाली में मुँह डालता और दुत्कारा जाता। आखिर में वह नामदेव की सेकी रोटी लेकर भागा।

नामदेव पास में रखी घी की कटोरी लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़े और कहने लगे—'भई। रूखी रोटी मत खाओ, पेट में दर्द होगा। घी चुपड़-चुपड़ कर नामदेव अपने हाथ से उसे खिलाने लगे। उनका सभी ने खूब मजाक उड़ाया। पेट भर जाने के बाद कुत्ते ने मानुषी वाणी में कहा—'नामदेव ! तुम्हारी सच ही सभी प्राणियों में समदृष्टि है। यहाँ जुटे हुए इन महात्माओं की विषम दृष्टि अभी मिटी नहीं, पर तुमने सर्वत्र समदृष्टि के भगवत्-आदेश को पूर्णत: चरितार्थ कर डाला। 'भक्ति विजय' के अनुसार यह कहकर कुत्ता अन्तर्धान हो गया और सभी महात्मा नामदेव के भाग्य की सराहना करने लगे।

परमेश्वर स्वयं को सर्वत्र व्यक्त कर रहा है। कर्मयोगी जानता है कि यह जगत् भागवत शक्ति के कर्म का ही जगत् है। यह शक्ति असंख्य प्रकार के जीवों में नाना रूप में अपने को परिणत करती है

और प्रत्येक वस्तु के अन्दर इसी शक्ति की विशेष विशेष शक्तियाँ रहती हैं। श्री अरविन्द कहते हैं–प्रत्येक वस्तु भगवान् का एक-एक रूप है, भगवान् जैसे सिंह बने हैं, वैसे ही हरिण भी बने हैं, देवता बने हैं और दानव भी बने हैं। आकाश में जलते हुए अचेतन सूर्य बने हैं और जगत् द्रष्टा सचेतन मनुष्य बने हैं। गुणों के द्वारा जो विकृति की सृष्टि बनती है वह केवल एक नीचे का खेल है, मूल भाव नहीं है। मूल वस्तु है भागवत शक्ति के आत्मप्रकाश की लीला। उच्च मनीषी पुरुष धीर, मनुष्यों के नेता, महान् गुरु, ऋषि, ज्ञानी, धर्म संस्थापक, साधु, मानव प्रेमी, उच्च कवि, महान् शिल्पी, असाधारण वैज्ञानिक, इन्द्रिय विजयी संन्यासी, जगज्जयी शक्तिमान् मनुष्य—आदि सभी में भगवान् ही अपने को प्रकट कर रहे हैं। जो कुछ कार्य हो रहे हैं, महान् काव्य, सर्वाङ्ग सुन्दर रूप-सृष्टि, गम्भीर प्रेम, महान् कर्म, दिव्य सिद्धि आदि--सभी भगवान् के कर्म हैं।

सर्वभूतहिते रताः

सच्चा विश्व प्रेम और अभय सर्वत्र भगवान् के दर्शन से ही सम्भव है। भगवान् की अनुभूति के बिना विश्व-बन्धुत्व की बातें सिर्फ बकवास हैं, भगवत् साक्षात्कारी ही सबसे प्रेम कर सकता है और जब सर्वत्र उसे ईश्वर का दर्शन होता है तब वह डरेगा किससे? ऋषिकेश में सन्त द्वारकादास रहा करते थे। एक बार एक गोरा वहाँ शिकार करने आया। उसने बाघ के जोड़े में से एक बाघ को मार दिया किन्तु बाघिन बच गयी। गोरा उसे भी मारने के लिए मचान पर जा बैठा।

सन्त उसके पास पहुंचकर बोले—'बाघिन को मत मारना, वह दुखी है।' कहकर वहीं लेट रहे। इतने में बाघिन आई। गोरे ने जैसे ही बन्दूक उठाई वैसे ही सन्त ने डाँटकर मना कर दिया। बाघिन उनकी परिक्रमा कर वापस चली गयी। आश्चर्य से गोरे ने पूछा—आपको बाघिन ने क्यों नहीं मारा? आपको डर कहीं लगता? महात्मा

ने कहा—मैं किसी को नहीं मारता, तब वह मुझे क्यों मारेगी ? फिर भय लगने का कोई कारण ही नहीं ।'

भरोसा भगवान् का

कर्मयोगी भगवद् विधान की कल्याणमयता पर अगाध विश्वास रखता है। एक अंग्रेज अधिकारी अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ जहाज द्वारा समुद्र-यात्रा कर रहा था । रास्ते में भीषण तूफान आ गया। सभी यात्री चिन्तित हो उठे किन्तु उस व्यक्ति को रंच मात्र भी घबराहट नहीं हुई। उसकी पत्नी भी घबरा रही थी। उसने पूछा—आप निश्चिन्त कैसे बैठे हैं ?' अधिकारी ने म्यान से तलवार खींचकर पत्नी के सिर पर धर दी और हँस कर पूछा—'तुम्हें डर लगता है या नहीं ?' पत्नी बोली—मेरी बात का उत्तर न देकर आप यह क्या खेल कर रहे हैं ? आपके हाथ में तलवार हो और मैं डरूँ, यह कैसी बात ?' उस अधिकारी ने कहा—जैसे मेरे हाथ में तलवार है, वैसे भगवान् के हाथ में तूफान है। जैसे तुम मुझे अपना आत्मीय समझकर नहीं डरती, वैसे ही परमेश्वर को अपना मित्र समझकर मैं भी भयभीत नहीं होता। तूफान है, मगर डर किस बात का ?'

कर्मयोगी आत्मा की अमरता में दृढ़ आस्था रखता है और जीवन और मृत्यु को एक खेल समझता है। स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर जब अण्डमान जेल में थे। उनके गले में जो तख्ती लटकी रहती थी उसपर लिखा था—'१६१० ई० में सजा दी गई, १९६० ई० में रिहाई होगी।' सावरकर कोदो कालेपानियों की जदा दी गई। जिस दिन वह अपने गले में उपर्युक्त तख्ती लटकाये जेल में घूम रहे थे तो जेल-अधिकारी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—घबराओ मत, पचास साल पूरे होते ही अंग्रेज सरकार तुम्हें अवश्य छोड़ देगी।' सावरकर ने जवाब दिया—'अवश्य, अवश्य, लेकिन क्या अंग्रेज सरकार भारत में पचास साल तक टिकी भी रहेगी ?' वीर सावर लोकमान्य

तिलक के शिष्य थे और सच्चे कर्मयोगियों की भाँति किसी भी कार्य को असम्भव नहीं मानते थे। उन्होंने क्या नहीं किया? जेल के अन्दर भी बम-पिस्तौल मँगवाई। विदेशों से हथियार भेजे। शब्दकोषों में रख-कर भेजे। अदालत को उड़ाने की कोशिश की। वह सभी क्रान्तिकारियों के गुरु थे। उनकी महानता से जलकर उन्हें गाँधी—हत्याकाण्ड में फँसाने की लज्जाजनक चेष्टा की गयी। सच है—

मैं खटकता हूँ दिले अजदां मे कांटे की तरह,
तू फक़त 'अल्लाहू' 'अल्लाहू' 'अल्लाहू'।

ईश्वर के लिए आत्म-समर्पण

कर्मयोगी का सम्पूर्ण जीवन प्रभु के प्रति आत्मनिवेदन की कविता है। आत्मनिवेदन की मिठास से क्षुद्र अहम् का विगलन हो जाता है और कर्मों में दिव्यता आ जाती है। श्री अरविन्द कहते हैं-- दिव्यकर्म सचमुच किया ही तब जा सकता है जब यन्त्र समर्पित और पूर्णतायुक्त होकर निःस्वार्थ कार्य के योग्य बन जाय। यह तब होगा जब वैयक्तिक कामना और अहंकार तो मिट जायँ पर स्वाधीन व्यक्ति बना रहे। जब क्षुद्र अहं मिट जाता है तब भी सच्चे आध्यात्मिक पुरुष का अस्तित्व रह सकता है और उसके अन्दर ईश्वर का संकल्प, कर्म और आनन्द एवं पूर्णता और समृद्धि का आध्यात्मिक उपयोग भी बना रह सकता है। हमारे कर्म तब दिव्य होंगे और दिव्य ढंग से ही किये जायँगे। पूर्ण आत्म-निवेदन में पूर्ण आत्म समर्पण भी निहित है।'

सहनशीलता

समता की प्राप्ति के लिए वीरोचित सहिष्णुता नितांत आवश्यक है। कर्मयोगी के भीतर सहनशीलता कूट-कूट कर भरी होती है। बंगाल के विख्यात विद्वान् श्रीविश्वनाथ शास्त्री का कतिपय व्यक्तियों के साथ शास्त्रार्थ चल रहा जा। जब विपक्षी लोग पराजित होने लगे, तब उनमें से एक ने सूंघने के तम्बाकू की डिब्बी खोलकर शास्त्री जी पर

डाल दी। शास्त्री जी ने मुख पर पड़ी तम्बाकू को झटपट पोंछ डाला और हँसते हुए बोले--'यह तो कुछ देर के लिए प्रसंग से बाहर की बात हो गई, अब हम लोग अपने मूल विषय पर विचार करें।' शास्त्री जी की सहनशीलता ने विपक्षियों का मन मोह लिया।

भगवान् तथागत गौतम के जीवन का प्रसङ्ग है। उस समय वह राजगृह में विहार कर रहे थे। देवदत्त भगवान् से ईर्ष्या करता था। पूर्वाह्न में अनेक भिक्षुकों के साथ जब भगवान् भिक्षा के लिए निकले तो उसने नालागिरि नामक मतवाले हाथी को उसकी ओर छोड़ दिया। भिक्षुओं ने सुगत से निवेदन किया कि नालागिरि प्राण लेने आ रहा है, आप मार्ग से हट जायँ। राजपथ के दोनों ओर खड़े व्यक्ति चिन्तातुर थे किन्तु तथागत के हृदय में भय कहाँ! हाथी झपटता हुआ आया किन्तु उसने भगवान् को रौंदा नहीं अपितु उनकी चरण धूलि सूंड़ से लेकर सिर पर धारण कर ली।

एक बार अहमदाबाद के प्रसिद्ध सन्त सरयूदास रेलगाड़ी की तीसरी श्रेणी में सफर कर रहे थे। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। तिलभर भी जगह नहीं थी। महाराज जी के समीप ही एक हट्टाकट्टा पठान बैठा हुआ था जो पैर से उन्हें बार-बार ठोकर मार रहा था। महाराज जी ने तुरन्त उसका पैर अपने हाथ में ले लिया और सहलाकर कहने लगे—'भाई, संकोच क्यों करते हो? पैर बढ़ाकर खींचते क्यों हो? एक बार सेवा का अवसर दो। देखूँ, कहाँ कष्ट है!' पठान ने लज्जित होकर पैर पकड़ लिये।

अबुउस्मान हयरी पर एक दिन रास्ते में एक आदमी ने कोयले की टोकरी ही उलट दी। सन्त के साथ परिचय रखने वाले एक व्यक्ति ने क्रुद्ध होकर उसे डाँटना शुरू किया। हयरी ने उन्हें रोकते हुए कहा—'मित्रो! यह बेचारा तो धन्यवाद का पात्र है। मुझ जैसे व्यक्ति पर तो जलते अँगारों की वर्षा होनी चाहिए, यह बेचारा तो ठण्डा कोयला ही फेंक रहा है। इसने तो मुझ पर उपकार ही किया है।'

वैराग्य

सहिष्णुता के साथ ही विवेकपूर्ण वैराग्य भी कर्मयोगी की विशेषता है। कर्मयोगी बाहर से संसार में रहता हुआ भी वीतराग और वैराग्यवान होता है। उसमें आसक्ति का अभाव रहता है और केवल कर्त्तव्य का भाव रहता है। वह किसी भी पदार्थ में चिपकता नहीं, न किसी से कोई आशा रखता है। उसका एक मात्र धन है प्रभु की स्मृति। वह लोगों की निन्दा-स्तुति की परवाह नहीं करता और यश-अपयश का विचार किये बिना वह अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहता है। भगवान् बुद्ध का शिष्य था पूर्ण। धर्म प्रचारक के रूप में जाने के लिए अनुमति लेने वह भगवान् गौतम के समीप पहुँचा। तथागत ने कहा - जहाँ तुम जा रहे हो वहाँ के लोग अत्यन्त कठोर और क्रूर हैं। वे तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा ?'

शिष्य ने कहा—भगवान् ! मैं समझूंगा कि वे बहुत भले लोग हैं क्योंकि वे मुझे थप्पड़ घूंसे नहीं मारते।'

बुद्ध—यदि वे तुम्हें थप्पड़-घूंसे मारने लगे तो ?

पूर्ण—मैं उन्हें सत्पुरुष मानूंगा क्योंकि वे मुझे डन्डों से नहीं पीटते।

बुद्ध— वे पत्थर-डन्डों से भी पीट सकते हैं।

पूर्ण—वे दयालु हैं क्योंकि शस्त्र-प्रहर नहीं करते।

बुद्ध—यदि वे शस्त्र-प्रहार ही करें ?

पूर्ण—मैं उन्हें दयालु ही समझूँगा क्योंकि वे मुझे मार नहीं डालते।

बुद्ध—ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे तुम्हारा वध नहीं करेंगे ?

पूर्ण—ऐसा करके वे मुझे रोगों के घर इस शरीर से मुक्तकर अनुगृहीत ही करेंगे।

भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा अब तुम चाहे जहाँ जा सकते हो ।

प्रलोभनों पर विजय

प्रलोभन कर्मयोगी के सम्मुख भी आते हैं किन्तु वह उन पर विजय प्राप्त करता है । चम्पा नगरी के व्यापारी माकन्दी के पुत्र जिनपालित और जिनरक्षित बार-बार जलयान से समुद्री यात्रा करते थे । समुद्री व्यापार में उन्होंने पर्याप्त धन एकत्र कर लिया था । एक बार यात्रा के बीच समुद्र में अन्धड़ आ गया जिसके कारण उनका जलयान समुद्र के थपेड़ों से टुकड़े-टुकड़े हो गया । दोनों भाई लकड़ी के एक पटरे को पकड़ कर तैरते हुए एक द्वीप पर जा लगे । वहाँ एक यक्षिणी का भवन था । वह इन्हें ले गयी और खूब स्वागत-सत्कार करती रही । वह यह नहीं चाहती थी कि वे उस द्वीप से बाहर जायँ । एक दिन घूमते समय उन्हें एक आदमी मिला जिसका इन्हीं लोगों की तरह खूब स्वागत हुआ था किन्तु कुछ दिनों बाद किसी बात पर रुष्ट होकर यक्षिणी ने शूली पर लटका दिया था । उसने बताया--'इस द्वीप पर कुछ निश्चित तिथियों में एक यक्ष घोड़े का रूप रखकर आता है और आवाज लगाता है--'मैं किसे पार उतारूँ ?' जो कोई उससे प्रार्थना करता है, उसे वह पार उतार देता है किन्तु यदि पीठ पर बैठा व्यक्ति पीछे दौड़ती यक्षिणी के रूप तथा हाव-भाव पर आसक्त हो जाता है तो वह उस आदमी को तत्काल ही समुद्र में फेंक देता है ।' यक्ष आया । दोनों ने उससे प्रार्थना की । जैसे ही वह उन्हें समुद्र पार कराने लगा, सुन्दर रूप धारण कर यक्षिणी पुकारने लगी 'प्यारे ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?' जिन रक्षित का मन विचलित हो गया, अतः यक्ष ने उन्हें समुद्र में फेंक दिया और मार डाला किन्तु यक्षिणी के हाव-भावों से मोहित न होने के कारण जिन पालित सुरक्षित रूप से पार उतर गये । प्रलोभनों को जीतने से ही वे अपनी मातृभूमि का पुनः दर्शन कर सके ।

स्वाभिमान

महाभाष्य तिलक के रचयिता कैयट नगर से दूर एक झोंपड़ी में रहते थे। एक चटाई और कमण्डलु ही उनकी सम्पत्ति था। अपने भजन-पूजन और ग्रन्थ-लेखन से ही उन्हें अवकाश नहीं था। ब्राह्मणी मूंज काटकर रस्सियाँ बनाती और उन्हें बाजार में बेचकर घर का काम चलाती। एक दिन काशी-नरेश उनकी कुटिया पर पधारे। उन्होंने प्रार्थना की--'भगवन् ! आप विद्वान् हैं और जानते हैं कि जिस राजा के राज्य में विद्वान् ब्राह्मण कष्ट पाते हैं, वह पाप का भागी होता होता है।' कैयट जी ने कमण्डलु उठाया और चटाई समेटकर बगल में दबा ली। पत्नी से बोले—'हम लोगों के रहने से महाराज को पाप लगता है तो चलो, कहीं और चलें। तुम पुस्तकें उठालो।'

नरेश चरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़कर बोले--'मेरा अपराध क्षमा करें। मैं तो सेवा करने की आज्ञा चाहता था।' कैयट ने कमण्डलु रखते हुए कहा--'तुम्हारी सबसे बड़ी सेवा यही कि मुझे कभी किसी चीज का प्रलोभन न दो। फिर यहाँ मत आना और न किसी कर्मचारी को ही भेजना।' यह निःस्पृहता कर्मयोगी का अलंकार है।

समलोष्टाश्म-काञ्चनः

प्रलोभन बड़े आकर्षक होते हैं किन्तु उनका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। भगवत्कृपा के बूते कर्मयोगी आत्मविश्वास से परिपूर्ण रहता है और विकारों पर विजय पाता है। उसकी दृष्टि में पारस और कंकड़ एक जैसे हैं। सन्त नामदेव की पत्नी राजाई अपनी सहेली से घरेलू दुखड़ा सुनाकर थोड़ी देर के लिए पारस ले आई। राजाई ने पारस को लोहे से छुआ-छुआ कर बहुत-सा सोना बनाया और उसे बाजार में बेचकर बहुत-सा सामान खरीद लाईं।

भोजन के लिए जब नामदेव आये तो घर का रङ्ग-ढङ्ग ही बदला

दिया। राजाई ने सारी घटना सुनाकर मणि दिखाई। नामदेव मध्याह्न स्नान के लिए चन्द्रभागा पहुंचे और उसी में मणि को फेंक दिया। सहेली के पति ने हल्ला मचा दिया कि नामदेव ने मेरा पारस चुरा लिया। देखते-देखते चन्द्रभागा पर बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई और नामदेव से पारस देने को कहा। नामदेव बोले—'उसे तो मैंने नदी में फेंक दिया। चाहिये तो निकाल दूँ।' लोग हँसने लगे कि कहीं फेंकी हुई मणि भी मिल सकती है। डुबकी लगाकर जब नामदेव बाहर आये तो उनके हाथ में कुछ कंकड़ थे। सन्त ने कहा—'लीजिये इतने सारे पारस।' मजाक में ही लोगों ने लोहे से उनका स्पर्श कराया तो सोना बन गया।

कर्मयोगी यह कैसे सोच सकता है कि मैं और मेरा परिवार सुखपूर्वक जीवन बितायें ? स्वामी विवेकानन्द के पिता का अचानक स्वर्गवास हो चुका था। परिवार की हालत अतिशय चिन्ताजनक थी। नरेन्द्र नौकरी की तलाश में दिन-दिन भर धूप में भटकते थे। बड़ी मुश्किल से दौड़धूप करने के बाद एक वकील के यहाँ उन्हें मुंशीगिरी मिली तथा पुस्तकों का अनुवाद करके काम चला। आय का निश्चित साधन न रहने से घर की हालत वैसी ही खस्ता रही। आगे स्वामीजी के ही शब्दों में—'क्या किया जाय, कुछ समझ में नहीं आता था। एक दिन सोचा कि श्री रामकृष्ण की बात तो ईश्वर भी मानते हैं, उन्हीं के पास धरना देकर बैठना चाहिए। इस विचार से मन में स्फूर्ति आयी और मैंने तत्काल ही दक्षिणेश्वर की राह ली।

श्रीरामकृष्ण के पास पहुंच कर मैंने कहा—'महाराज ! मेरे घर के लोगों के लिए अन्न वस्त्र की व्यवस्था कर देने के लिए आपको जगदम्बा की प्रार्थना करनी होगी। मैं उनका कष्ट और नहीं देख सकता।' श्री रामकृष्ण ने बड़े प्रेम से कहा—'नरेन, तू तो माता को नहीं मानता। इसलिए इतना कष्ट पाता है। माता से तेरे विषय में मैंने कितनी ही बार कहा किन्तु वे इस ओर ध्यान भी नहीं देतीं। आज मङ्गलवार है।

मैं कहता हूं, आज रात को तू माता के मन्दिर में जा, उसे प्रणाम कर और जो चाहे सो माँग ले। मेरी माँ चिन्मयी ब्रह्म शक्ति है—केवल इच्छा मात्र से संसार का निर्माण करने वाली। वह क्या कुछ नहीं कर कर सकतीं।

इस आश्वासन से मेरे मन में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया और मैं अत्यन्त अधीरता से रात की प्रतीक्षा करने लगा। एक प्रहर रात बीतने पर श्रीरामकृष्ण ने मुझे माता के मन्दिर में जाने को कहा। उस समय एक विचित्र नशा मुझ पर छा गया था, पैर थर-थर काँप रहे थे और इसी भावना में कि अब मुझे माता के दर्शन होंगे, उनके शब्द सुनने को मिलेंगे, मैं अन्य सभी चिन्ताओं को भूल गया। जब मन्दिर में गया तो यही दिखाई दिया कि मां सचमुच चिन्मयी हैं, व जीवित हैं और उनके शरीर में से रूप, प्रेम लावण्य, करुणा मानों प्रवाहित हो रहे हैं। यह देखकर भक्ति और प्रेम से मेरा हृदय भर आया और मैं विह्वल होकर गद्गद् अन्त करण से बराबर प्रणाम करते हुए कहने लगा—'माँ, विवेक दे, वैराग्य दे, ज्ञान दे, भक्ति दे और जिस प्रकार मुझको तेरा दर्शन निरन्तर होता रहे, वही उपाय कर।' इससे मन को बड़ी शान्ति मिली। जगन्माता के अतिरिक्त और सभी विचारों को मैं भूल गया और अत्यन्त प्रसन्नता के साथ श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर लौट आया।

मुझको देखते ही उन्होंने पूछा – क्यों रे, सांसारिक कष्टों को दूर करने के लिए तूने माँ से प्रार्थना की?' इतना सुनते ही जैसे मुझे फिर होश आया और मैं कहने लगा—'अरे मैं सचमुच ही सब कुछ भूल गया, अब क्या करूँ?' श्रीरामकृष्ण बोले—'जा, पुनः प्रार्थना कर।' मैं पुनः मन्दिर में गया, लेकिन जगन्माता के सामने जाते ही फिर सब कुछ भूलकर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की ही प्रार्थना कर लौट आया।

इस प्रकार तीन बार मैं मन्दिर में गया लेकिन तीनों बार साँसारिक सुखों की माँग माँ से न कर सका। मुझे लगा कि ऐसी क्षुद्र बात

मैं जगन्माता से कैसे कहूं ? यह तो ऐसा ही हुआ जैसे राजा के पास जाकर कुम्हड़ा माँगना। मुझे बड़ी लज्जा लगी। माता से मैं केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना कर सका। श्री रामकृष्ण के कमरे में जाकर मैंने कहा—'अब आपको ही मेरे लिए प्रार्थना करनी होगी। यह सब आप ही का खेल है।' इस पर वे बोले—'क्या करूँ रे, मैं किसी के लिए भी ऐसी प्रार्थना आज तक नहीं कर सका। ऐसी बात मेरे मुँह से निकलती नहीं। इसीलिए तो तुझे कहा था कि तू खुद जाकर माँ से जो चाहिए, सो माँग ले। माता तुझे वह वस्तु अवश्य देंगी। पर तेरे भाग्य में संसार सुख नहीं है, मैं क्या करूँ!' फिर भी मैं चुप बैठने वाला थोड़े ही था। मैंने उनसे पुनः निवेदन किया कि आपको इतनी बात तो मेरे लिए करनी ही होगी, मुझे विश्वास है कि आप यदि चाहेंगे तो सब कुछ हो जायेगा।' उन्होंने जब देखा कि यह किसी भी तरह नहीं मानता, तो कहने लगे--'अच्छा जा, तुम लोगों को रूखे-सूखे अन्न और मोटे वस्त्र की कमी नहीं रहेगी।'

उपदेश नहीं, आचरण

कर्मयोगी उपदेश नहीं देता। उसका जीवन धर्म का व्यावहारिक भाग्य होता है। एक साधु ने छः वर्ष तक एक एकान्त गुफा में कठोर साधना की। एक रात्रि को एक देवदूत उसके समीप आया। देवदूत ने साधु से कहा—'यदि तेरी इच्छा सद्गुणों और पवित्रता में सबका मुकुट मणि बनने की है तो उस मस्त भिखारी का अनुकरण कर जो कविता गाता हुआ इधर-उधर भीख माँगता है।' देवदूत की बात सुनकर साधु मन में कुढ़ने लगा और आवेश में उस भिखारी को खोजने निकल पड़ा भिखारी से साधु ने कहा—'भाई, तुमने ऐसे कौन से सत्कर्म किये हैं जिनसे तुझ पर ईश्वर इतने अधिक प्रसन्न हैं ?'

भिखारी बोला—महात्मा जी, मुझसे दिल्लगी मत करिए। मैंने न कोई तपस्या की। मैं तो कविता गा-गाकर लोगों का मनोरंजन करता

हूं और जो रूखा-सूखा मिल जाता है, उसी को खाकर सन्तुष्ट रहता हूं।' साधु बोला--नहीं, नहीं, तुमने अवश्य ही सत्कर्म किये हैं। अच्छा बताओ तो सही, तुम भिखारी कैसे बने ?'

भिखारी कहने लगा—महाराज ! न मैंने अपव्यय में पैसे फूंक डाले और न किसी व्यसन के कारण। एक दिन की बात है। मैंने देखा कि एक निर्धन स्त्री भयभीत हुई इधर-उधर दौड़ रही है, उसका चेहरा उतरा हुआ है। ज्ञात हुआ कि उसके पति और पुत्र ऋण के बदले में गुलाम बनाकर बेच दिये गये हैं। सुन्दरी होने के कारण कुछ लोग उस पर अधिकार करना चाहते हैं। यह जानकर मैंने उसे धीरज बँधाया और उनके अत्याचारों से उसकी रक्षा की। फिर मैंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति साहूकारों को देकर उसके पति, पुत्रों को गुलामी से छुड़ा कर उस स्त्री से मिला दिया। सारी सम्पत्ति चले जाने के कारण मैं दरिद्र हो गया। अब मैं कविता गा-गाकर लोगों को रिझाता हूं और जो टुकड़ा मिल जाता है उसी को खाकर सन्तुष्ट रहता हूं। किन्तु इससे क्या ? ऐसा काम क्या और लोग नहीं करते ?

तपस्वी का अहङ्कार जल गया।

वर्णगत अभिनिवेश कर्मयोग में बहुत बाधक है। स्वामी रामानुजाचार्य वृद्धावस्था में बहुत दुर्बल हो चले थे। प्रतिदिन प्रातः काल नदी नहाने जाते तो उन्हें किसी न किसी शिष्य का सहारा लेना पड़ता जब वे जाते तो एक ब्राह्मण शिष्य के कन्धे पर हाथ रखकर जाते और लौटने समय एक शूद्र शिष्य का सहारा लिया करते। लोगों ने उन्हें टोका—आपको यदि शूद्र शिष्य का सहारा लेना ही है तो स्नान को जाते समय लिया करें। नहाने के बाद शूद्र का स्पर्श उचित नहीं। आचार्य श्री ने स्मरणीय उत्तर दिया—मेरे मन में ब्राह्मण होने का जो गर्व है उसे नदी का जल नहीं धो पाता है। उससे छुटकारा पाने के लिए मुझे स्नान के बाद शूद्र शिष्य को छूना आवश्यक होता है।' सचमुच वास्तविक कर्मयोगी किसी मनुपुत्र को अस्पृश्य और अपवित्र कैसे मान सकता

है ? स्पृश्यास्पृश्य के लम्बे शास्त्रार्थ करने वाले अध्यात्म के राज्य में प्रविष्ट नहीं हो सकते क्योंकि उसमें घुसने के लिए जाति, वर्ण, कुल और लिङ्ग के अध्यास से मुक्ति परम आवश्यक है। जिसकी चेतना चर्म और देह के तल पर ही मँडराती है, वह अत्यन्त दयनीय है क्योंकि उसने आत्म राज्य की ओर पीठ कर रखी है। वर्ण की चेतना से छुटकारा पाये बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव ही नहीं। जाति का गर्व मिथ्या है और उससे प्रगति के समस्त द्वार रुद्ध हो जाते हैं। कर्मयोगी गुण की कीमत करता है, चमड़े और जाति से आदमी का मूल्यांकन नहीं करता। वह सही देखता है और गहरा देखता है।

दूसरों के स्वाभिमान की रक्षा

कर्मयोगी स्वाभिमानी होता है और दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा करना जानता है। वह स्वयं मुक्त रहता है और दूसरों को बन्धनों से मुक्ति दिलाता है। वह किसी के सम्मान पर चोट नहीं करता और न किसी दबाव के आगे किसी भी ऐसी स्थिति को स्वीकार करता है जो मानवीय गरिमा से च्युत हो। कर्मयोगी का हृदय कर्त्तव्य के अनासक्त आचरण से पत्थर नहीं हो जाता अपितु ईश्वरीय करुणा का मधुर सङ्गीत उसके हृदय में तरंगित होता रहता है। वह मानवता के आदर्शों की प्रतिष्ठा करता है, न कि ध्वंस।

दक्षिण भारत में बल्लारि राज्य में मलबाई शासन करती थीं। शिवाजी के प्रचण्ड सैनिकों ने उक्त राज्य पर आक्रमण किया। सैन्य-स्वल्प होते हुये भी वहाँ के सिपाही बड़ी बहादुरी से लड़े। मलबाई बन्दिनी के रूप में छत्रपति के सम्मुख लायी गयी। उसने कहा—एक नारी होने के कारण मेरा उपहास क्यों किया जा रहा है ? तुम्हारा राज्य बड़ा है, हमारा छोटा। तुम स्वतंत्र हो, कुछ देर पूर्व तक हम भी स्वतन्त्र थे। क्या हुआ जो शक्ति कम होने के कारण पराजित हुई हूं। परन्तु तुम्हें मेरा अपमान तो नहीं करना चाहिए। तुम्हारे लोगों

का आदर-दान का यह अभिनय अपमान नहीं तो और क्या है ? मैं शत्रु हूं, मुझे मृत्यु-दण्ड दो।'

छत्रपति हाथ जोड़ कर सिंहासन से खड़े हो गये और बोले— आप परतन्त्र नहीं हैं। बल्लारी स्वतन्त्र है। मैं आपका शत्रु नहीं पुत्र हूं। अपनी तेजस्विनी माता जीजाबाई की मृत्यु के पश्चात् मैं मातृहीन हो गया था, आप में मुझे वही मूर्ति दिखाई देती है। आप यदि मेरे अपराध क्षमा कर सकें तो उसे अपना पुत्र स्वीकार कर लें। मलबाई के नेत्र भर आये। महाराष्ट्र और बल्लारी के सैनिक 'महाराज शिवाजी की जय' बोल रहे थे और स्वयं छत्रपति 'माता मलबाई की जय' बोल उठे।

मध्यम मार्ग

कर्मयोगी धर्म की आत्मा को समझता है। वह न भोग से बँधता है, न त्याग से। वह युक्ताहार-विहारवादी होता है। एक युवा राजकुमार ने बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण की। पहले अत्यन्त भोगी और विलासी था। दीक्षा लेने के बाद वह बिल्कुल दूसरे छोर पर पहुंच गया। वह कांटों वाली पगडंडी पर चलता ताकि पैर लहूलुहान हो जांय। दूसरे भिक्षु छाया में बैठते, वह धूप में तपता, दूसरे वस्त्र ओढ़ते वह नग्न पड़ा रहता। बुद्ध एक वर्ष बाद उस भिक्षु के पास गये। बोले— राजकुमार श्रोण, प्रव्रज्य ग्रहण करने से पूर्व तू वीणा-वादन में बडा कुशल था। मुझे एक बात बता कि वीणा के तार अगर बहुत ढीले हो जायं या बहुत कस दिये जायं तो क्या सङ्गीत पैदा होगा ?' श्रोण बोला सङ्गीत उस बिन्दु पर जन्म लेता है जहां वीणा के तार न बिल्कुल ढीले होते हैं और न बहुत कसे हुए ही। बुद्ध ने कहा—मैं इतना ही कहने आया था कि वीणा में सङ्गीत का जो नियम है, जीवन की वीणा पर सङ्गीत पैदा करने का वही नियम है।'

धर्म की आत्मा का साक्षात्कार

कर्मयोगी धर्म के मूल तत्त्व तक सीधे पहुंच जाता है। वह

उसके बहिरङ्ग कलेवर में उलझ कर नहीं रह जाता। बहुत पहले जापान में एक गरीब भिक्षु ने बुद्ध के ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित करने का निश्चय किया जिसके लिए उस समय कम से कम दस हजार रुपये की आवश्यकता थी, उस भिक्षु ने गाँव-गाँव जाकर रुपये एकत्रित किये। वह दस हजार रुपये एकत्र कर ही पाया था कि उस क्षेत्र में अकाल पड़ गया। उसने सभी रुपये दीन-दुखियों को बाँट दिये। उसने पुनः माँगना आरम्भ कर दिया। दस साल में बड़ी मुश्किल से रुपये इकट्ठे हो पाये। तभी बाढ़ का प्रकोप हो गया। भिक्षु ने इस बार भी सब रुपये जरूरत मन्दों में बाँट दिये। इस समय उसकी अवस्था सत्तर साल हो चली थी। उसके मित्रों ने कहा—तुम पागल हो गये हो। ग्रन्थों का अनुवाद कब करोगे ? लेकिन वह हँसा और फिर चन्दा मांगने में जुट गया। ९० साल की अवस्था में वह पुनः दस हजार रुपये जुटा पाया। इस बार कोई दुर्घटना नहीं हुई। उन ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित हुआ जिस पर छपा था-तृतीय संस्करण। उसका एक संस्करण अकाल के समय, दूसरा बाढ़ के समय हो चुका था। वे अदृश्य संस्करण कितने अद्भुत थे।

लोक प्रसिद्धि से विमुखता

कर्मयोगी प्रसिद्धि और प्रचार से दूर भागता है। इतिहासवेत्ता रमेशचन्द्र दत्त ने एक बार श्रीअरविन्द से उनकी कुछ रचनाओं की पाण्डुलिपियां माँगी। श्री अरविन्द ने रामायण और महाभारत के अंग्रेजी अनुवाद उन्हें दिये। दत्त महाशय ने स्वयं इन दोनों ग्रंथों का अनुवाद किया था जो विदेश से प्रकाशित हुआ था। श्री दत्त ने कहा—'ऋषिवर ! मैंने भी यह अनुवाद किया है किन्तु आपका अनुवाद इतना सुन्दर है कि मुझे अपने अनुवाद पर लज्जा लग रही है।' अपनी प्रशंसा सुन कर भी श्री अरविन्द को प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने कहा—इसे मैंने छपाने के लिए नहीं लिखा है और न यह मेरे जीवन-काल में छप ही

सकेगा।' प्रकाशन के लिए बहुत अनुरोध करने पर भी श्री अरविन्द राजी नहीं हुए।

चैतन्य महाप्रभु उन दिनों निमाई नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उन्हीं दिनों वे न्याय शास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। उनके सहपाठी रघुनाथ भी 'दीधिति' नामक ग्रन्थ लिख रहे थे। उन्होंने निमाई से ग्रन्थ देखने की इच्छा प्रकट की। दूसरे दिन निमाई पण्डित अपना ग्रन्थ साथ ले आये और पाठशाला के मार्ग में जब दोनों साथी नौका पर बैठे तब वहीं उन्होंने ग्रन्थ सुनाना आरम्भ कर दिया। पढ़ते पढ़ते निमाई ने बीच में सिर उठाया और रघुनाथ को रोते देखा तो आश्चर्य से बोले—भैया, तुम रो क्यों रहे हो ? रघुनाथ ने कहा-मैं इस अभिलाषा से अपना ग्रन्थ लिख रहा था कि वह न्यायशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जायगा किन्तु तुम्हारे ग्रन्थ के सामने इसे कौन पूछेगा ?

'बस, इतनी-बात !' और जब तक पं० रघुनाथ कुछ समझें, तब तक ग्रन्थ के पन्ने भागीरथी में तैरने लगे।

श्रम का आभूषण

कर्मयोगी परिश्रम में गौरव का अनुभव करता है न कि अकर्म, आलस्य और झूठी प्रतिष्ठा के भाव से आक्रान्त रहता है। अमेरिका में स्वतन्त्र्य-समर के समय एक किलेबन्दी हो रही थी। एक नायक कतिपय सैनिकों द्वारा यह काम करा रहा था। किले की दीवार पर तक भारी लकड़ी चढ़ाई जा रही थी मगर इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिल रही थी। नायक उन्हें आज्ञा भी देता था और प्रोत्साहन भी, किन्तु उठाने में हाथ नहीं लगवाता था।

उधर से एक घुड़सवार निकला। घुड़सवार ने नायक से कहा—आप भी लकड़ी उठवाने में लग जाँय तो लकड़ी ऊपर उठ जायगी। नायक ने कहा—मैं इस टुकड़ी का नायक हूं। 'क्षमा करें' कह कर

घुड़सवार उतर पड़ा। उसने कोट उतार दिया, टोपी अलग रख दी और कमीज की बाहें ऊपर चढ़ा कर सैनिकों के साथ जुट गया। लकड़ी ऊपर चढ़ गयी।

नायक ने कहा—'धन्यवाद।' कोट पहनते हुए घुड़सवार बोला - इसमें धन्यवाद की कोई बात नहीं। आपको जब सहायता की आवश्यकता हो तो प्रधान सेनापति के पास सन्देश भिजवा दिया करें। मैं सदैव सहायता के लिए तत्पर हूँ क्योंकि परिश्रम को गौरव की वस्तु मानता हूँ, हीनता की नहीं।'

कर्त्तापन का अहंकार नहीं

कर्मयोगी जानता है कि पुरुष नित्य मुक्त, अकर्ता, चिरशान्त, शुद्ध तथा कर्मों के अन्दर भी अविचल है और प्रकृति चिरक्रियाशील है जो जड़ता और अकर्म की अवस्था में भी उतनी ही कर्म रत है जितनी कि दृश्य कर्मस्रोत के कोलाहल में। कर्मयोगी औरों की तरह प्रकृतिवश होकर कर्म नहीं करता अपितु भगवान् के साथ योगयुक्त होकर कर्मों का सम्पादन करता है। वह कर्तृत्व के अभिमान से सर्वथा शून्य होता है। कर्मयोगी भी बाहर से दूसरों की तरह कर्म में प्रवृत्त होता है, शायद अधिक बड़े पैमाने पर, अधिक सशक्त संकल्प और वेगवती शक्ति के साथ करता है क्योंकि उसकी सक्रिय प्रकृति में भगवत्सङ्कल्प का बल काम करता है किन्तु उसके समस्त उपक्रम और उद्योगों में कामना के हीनतर भाव और निम्नतर इच्छा का अभाव होता है। उसके कर्मों का उद्देश्य है आत्म-शुद्धि। प्रकृति के कर्मों के साथ अपना तादात्म्य कर लेने से, कर्तृत्व के अभिमान से पाप-पुण्य का जन्म होता है। कर्मयोगी त्रिगुणातीत हो जाता है वह न सात्विक है, न राजसिक और न तामसी और श्री अरविन्द के शब्दों में 'उसके कर्मों में प्राकृतिक गुणों और धर्मों के जो परिवर्तन होते रहते हैं, प्रकाश और सुख, कर्मण्यता और शक्ति, विश्राम एवं जड़ता का जो छन्दोबद्ध खेल होता रहता है,

उसे वह निर्मल एवं शान्तभाव से देखता है। भगवान् ही सारे कर्म का आरम्भ, प्रेरण और निर्धारण करते हैं, मानव-आत्मा ब्रह्म में निर्व्यक्तिक भाव को उनकी शक्ति का विशुद्ध और नीरव स्रोत-मार्ग बनती है, यही शक्ति प्रकृति में आकर दिव्य कर्म सम्पादन करती है। वासना-कामना, अहंकार, व्यक्तिगत संकल्प और मन के विचार केवल निम्न प्रकृति में ही कर्म के प्रेरक होते हैं, परन्तु जब अहंकार नष्ट हो जाता है और कर्मयोगी परात्पर चेतना और विश्व-चैतन्य में ही रहता है तब कर्म उसी में से स्वतः निकलता है, उसी में से वह ज्योतिर्मय ज्ञान निकलता है जो मन के विचार से ऊपर की चीज है, उसी में से वह शक्ति निकलती है जो व्यक्तिगत संकल्प से विलक्षण और बहुत अधिक बलवती है तथा जो उसके लिए कर्म करती और फल लाती है, फिर व्यक्तिगत कर्म नहीं रह जाता, सब कर्म ब्रह्म में ले लिया और भगवान् के द्वारा धारण किया जाता है।

स्वाधीनता

स्वाधीनता कर्मयोगी का आदर्श है। स्वाधीनता का अर्थ है कामना-पाश से मुक्ति। आचार्य रसिक-मोहन विद्याभूषण कहा करते थे: हमारे मन में निरन्तर परस्पर आघात करती हुई जो वासनाएँ समुद्र की तरंगों की भाँति हमको उत्क्षिप्त, विक्षिप्त और प्रक्षिप्त कर डालती हैं, निरन्तर जो विद्रोह, संग्राम हमारे हृदय क्षेत्र को रणक्षेत्र से भी अधिक अशान्ति से भर देता है—अनन्त ज्वालामुखी की सृष्टि कर रहा है, हम निरन्तर जो सारहीन भोग-लालसा की कामना से परिचालित रहे हैं, उन सब कामनाओं को निरस्त किये बिना कहाँ तो हमारा यथार्थ स्वराज्य है और कहाँ स्वाधीनता है? नाना प्रकार की स्वार्थ-वासनायें रात-दिन हमें व्याकुल करती रहती हैं। जिसे हम दासता कह कर घृणा करते हैं, स्वाधीनता का लोप करने वाला मानकर दूर करने की चेष्टा करते हैं, वह शत्रु है हमारे हृदय में रहने वाली वासना। हम वस्तुतः राजकीय विधान के दास नहीं, हम रात-दिन दास हैं अपनी

वासना के । हमने चाह-चाह कर वासना की बेड़ी से अपने पैरों को मुक्त किये बिना हमारी सच्ची स्वाधीनता आशा विडम्बना-मात्र है । मनुष्य जब तक प्रकृति की दासता से मुक्त नहीं तब तक उसकी आत्मा को स्वराज्य-प्राप्ति नहीं होगी । काण्ट भी कहता है "Freedom from the mechanism of nature and subjection of the will." स्वामी राम का मत है कि हृदय की पवित्रता का अर्थ ही है स्वयं को कामनाओं से मुक्त कर लेना । अहंकारपूर्ण जीवन का छोड़ना ही सच्चा त्याग है ।

परमात्मा के राज्य में केवल उन्हीं को प्रवेश मिलता है जो अहंकार से मुक्त हैं । अहंकारी मन विमूढ़ होता हैं और उसकी आध्यात्मिक प्रगति की कोई सम्भावना नहीं रहती । कर्मयोगी अहंकार की व्यर्थता से परिचित है और उसका बोझ ढोना उसे सर्वथा असह्य है । किसी दुर्गम और बहुत ऊँचे पर्वत पर परमात्मा का स्वर्ण मन्दिर था जिसमें सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति को पुजारी के रूप में चुना जाना था । लोग बढ़ चले । उनके कंधों पर भारी-भारी पत्थर थे । सभी ने आश्चर्य से देखा कि जो व्यक्ति सबसे पीछे था, वह जरा भी थका नहीं था और उसकी गति में तीव्रता आ रही थी । उसने अपना पत्थर फेंक दिया था । जब सभी लोग शिखर पर पहुंचे तो उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही क्योंकि उसी व्यक्ति को नया पुजारी बना दिया गया । पुराने पुजारी ने कहा : अधिकारी केवल वही है जो स्वयं के अहकार के भार से मुक्त है । अहंकार का पथरीला बोझ वास्तविक बल नहीं है और मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि इन पत्थरों का बोझ ढोने की सलाह आपको किसने दी थी ?'

चक्रवर्ती सम्राट् भरत की धारणा थी कि वे समस्त भूमण्डल के प्रथम चक्रवर्ती हैं--कम से कम वे ऐसे प्रथम चक्रवर्ती नरेश हैं जो वृषभाचल पर पहुंच सके हैं । वे उस शिखर पर अपना नाम अंकित करना चाहते थे । शिखर पर पहुंच कर भरत के पैर फिसल गये ।

उन्होंने ऊपर से नीचे तक पर्वत शिखर को भलीभाँति देखा। जहाँ तक वे जा सकते थे, शिखर की अन्य दिशाओं तक गये। उस पर इतने नाम अङ्कित थे कि कहीं नया नाम तभी लिखा जा सकता था जब पहले के किसी चक्रवर्ती का नाम मिटा दिया जाय। भरत खिन्न हो गये। उन्होंने एक नाम मिटवा दिया और अपना नाम अङ्कित कराया। किन्तु लौटने पर राजपुरोहित ने कहा – राजन्! नाम को अमर करने का आधार ही आपने नष्ट कर दिया और नाम मिटा कर नाम लिखने की प्रथा आरम्भ कर दी। क्या पता कब कौन वहाँ जाकर आपका भी नाम मिटा दे।'

वासना और कामना समर्पण की शत्रु हैं। एक धनपति ने श्रीनाथ जी को दस हजार स्वर्ण-मुद्राएँ अर्पित कीं। वह उन मुद्राओं को एक-एक कर गिनने लगा। मुद्राओं की खनखनाहट खूब होती थी। भीड़ बढ़ते देखकर और भी आवाज करके वह मुद्राएँ गिनने लगा। जब वह सारी मुद्राएँ गिन चुका तो भक्त पुजारी ने उससे कहा—'मित्र! ये मुद्राएँ समर्पण के योग्य नहीं रहीं क्योंकि उनकी खनखनाहट दूसरों ने सुनली है। ये मुद्राएँ वापस ले जाओ।' धनपति हैरान था। उसका त्याग का अहङ्कार ठंडा पड़ गया। पुजारी ने कहा—तुम्हारे हृदय में विज्ञापन की वासना है। जहाँ प्रेम वस्तुतः होता है, वहाँ क्या प्रदर्शन और ढिंढोरा पीटने की वृत्ति रह सकती है? जहाँ जताने की प्रवृत्ति है, लोक दिखावा है, प्रचार और उद्घोषण है, वहाँ समर्पण नहीं हो सकता।'

न जय में खुशी, न पराजय में शोक!

कर्मयोगी को न अग्नि-वर्षा रोक पाती है और न मार्ग में अड़ी शिलाएं। वह अमृत-कलश का लोभी नहीं। रूप के आकर्षण में वह नहीं बँधता और पराजय उसकी यात्रा में बाधक नहीं बन पाती—

उमड़ घटायें करें वह्नि-वर्षा,
गिरें बिजलियाँ व्योम-तल से तड़प कर।
रहें फूलते पाँव के तप्त छाले,
रहूँगा प्रगतिमान मैं इष्ट-पथ पर।
शिला-शृङ्ग शत-शत चुभे जा रहे किन्तु,
मैं मुस्कराता चला जा रहा हूँ।
सुधा के कलश की नहीं चाह तुमको,
विषम प्यास मेरी बुझेगी गरल से।
खिली वाटिकाएं डिगा क्या सकेंगी,
अभय खेलता मैं अनिल से, अनल से।
मुझे हार भी हार है, मैं निरन्तर-
विजय गीत गाता चला जा रहा हूँ।

अन्धकार के तूफान में वह प्राणों का दीप जलाये बढ़ता चला जा रहा है। उसकी पुतलियों में रात और अधरों पर प्रात है। प्रलय-कालीन पवन उसका क्या बिगाड़ लेगी ? —

मैं अकम्पित दीप प्राणों का लिये,
यह तिमिर-तूफान मेरा क्या करेगा ?
बन्द मेरी पुतलियों में रात है
हास बन बिखरा अधर पर प्रात है
मैं पपीहा, मेघ क्या मेरे लिये-
जिन्दगी का नाम ही बरसात है
सांस में मेरी उनचासों पवन,
यह प्रलय-पवमान मेरा क्या करेगा ?

हवा भी उल्टी बह रही है, पैरों में काँटे चुभ गये हैं किन्तु कर्मयोगी यह विश्वास लेकर चलता है कि राह में मिलने वाला हर काँटा फूल है। सुनसान और उजाड़ रास्ते इसको क्या कभी रोक पायेंगे, क्या डरा सकेंगे ?—

कुछ नहीं डर वायु जो प्रतिकूल है।
और पैरों में कसकता शूल है॥
क्योंकि मेरा तो सदा अनुभव यही।
राह पर हर एक काँटा फूल है॥

कर्मयोगी को साधना-पथ की कठिनाइयाँ डराने में असमर्थ रहती हैं। वह उनसे कभी हार नहीं मानता--

मैं मुसाफिर हूँ कि जिसने है कभी रुकना न जाना।
है कभी सीखा न जिसने मुश्किलों में सर झुकाना॥
क्या मुझे मंजिल मिलेगी या नहीं-इसकी न चिन्ता।
क्योंकि मंजिल है डगर पर सिर्फ चलने का बहाना॥

फलासक्ति ने उसके मन को बाँधा नहीं है और वह इतना अनासक्त है कि कर्त्तव्य की वेदी पर चुपचाप बलिदान देने को प्रस्तुत है—

मैं चला जब रोकने दीवार-सी दुनियाँ खड़ी थी।
मैं हँसा तब भी, बनी जब आँख सावन की झड़ी थी॥
उस समय भी मुस्करा कर गीत मैं गाता रहा था।
जबकि मेरे सामने हो लाश खुद मेरी पड़ी थी॥

विरोध में खड़ी दुनियाँ की उसने परवाह नहीं की, आँख से झरते हुए आंसुओं के बीच भी उसके अधरों पर मुस्कराहट खेलती रही, अपने सपनों के संसार में आग लगाते समय भी उसके अधर गीत गुनगुना रहे थे!

गहरी मानवीयता

कर्मयोगी शत्रु से प्रतिशोध लेने पर भी अमानव और असहृदय नहीं होता। लाला लाजपतराय की दारुण पिटाई से हुए राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने के लिए आजाद, भगतसिंह और राजगुरु ने लाहौर के ए० एस० पी० को गोली मार दी। घटनास्थल के समीप ही सहायता के लिए सुखदेव, विजयकुमार सिन्हा और भगवानदास माहौर तैनात

थे। सांडर्स को मारने के बाद राजगुरु, विजयकुमार सिन्हा और भगवानदास अलग मकान में रहे। राजगुरु को कुछ ग्लानिग्रस्त देखकर माहौर ने पूछा—सभी साथी तुम्हारे साहस और निशाने की तारीफ कर रहे हैं। तुम्हें अपनी सफलता पर प्रसन्न होना चाहिए, तुम इतने उदास क्यों दिख रहे हो ? मैं तुम्हारी जगह होता तो फूला न समाता।' गहरी साँस लेते हुए राजगुरु ने कहा—भाई, बड़ा सुन्दर नौजवान था ; उसके घरवालों को कैसा लग रहा होगा ?' माहौर ने कहा—'इससे क्या ? बहुत से जहरीले सांप क्या सुन्दर नहीं होते ? घर वाले सभी के होते हैं, इससे क्या साँपों को मारना नहीं चाहिए ?' राजगुरु ने कहा, ठीक है, मैंने भी मारा ही मगर कुछ नहीं। 'जब माहौर ने उनके निशाने की प्रशंसा की तो राजगुरु ने कहा—रह भी यार। मैंने तो निशाना लिया था उसके सीने का और गोली जाकर लगी उसके सिर में।' डा० माहौर कहते हैं—मैं राजगुरु का चेहरा देखता ही रह गया। राजगुरु का चेहरा देख रहा था या जीवन-कोष में सत्य और दम्भहीनता का जीवित अर्थ ? विश्वास नहीं हो पा रहा था कि मैं इस अर्थ को अभी भी भली प्रकार समझ पा रहा हूं या नहीं।'

परिस्थितियों की दासता नहीं

विपत्तियों से क्या घबराना। स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में--

शब हो, हवा हो, धूप हो, तूफाँ हो छेड़छाड़
जंगल के पेड़ कब इसे लाते हैं ध्यान में ?
गर्दिश से रोजगार के हिल जाय जिसका दिल
इन्सान होके कम है दरख्तों से शान में !

कर्मयोगी सोचता है-- संसार की तमाम चिन्ताएँ मुझे घेरे खड़ी हैं पर प्रभु-कृपा से वे मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ पा रही हैं। वे मुझे पथ से विचलित नहीं कर पायीं। मेरा मस्तक यद्यपि उनकी चोटों से घायल है किन्तु वह उनके सम्मुख झुका नहीं है। मैं अपने कर्त्तव्य पर दृढ़

हूं। मुझे मृत्यु की चिन्ता लेशमात्र नहीं। मैं हर्ष पूर्वक विपत्तियों का स्वागत कर रहा हूँ। मैं स्वयं ही अपना स्वामी हूँ। कोई भी विघ्न मुझे मार्ग से विचलित नहीं कर सकता —

Out of the night that covers me,
Black as the pit from pole to pole,
I thank whatever Gods may be
For my unconquerable soul.

In the fell clutch of circumstance,
I have not winced nor cried aloud,
Under the bludge ovings of chance
My head is bloody, but un bowed.

Beyoand this place of wrath and tears
Looms but the horror of the shade,
And yet the menance of the years
Finds, and shall find, me unafraid.

It matters not how strait the gate
How charged with punishments the Scroll,
I am the master of my fate,
I am the captain of my soul.

उसकी राह में कभी प्रकाश तो कभी अन्धकार छा जाता है, कभी बादल घिर आते और बिजली मुस्कराने लगती है मगर वह आगे अड़े हिमालय को भी चरणों पर झुका लेता है—

गहन यामिनी ही कभी साथ देगी
कभी राह में चाँदनी हँस उठेगी
सघन श्याम घन की कभी चीर छाती
चपल हास में दामिनी हँस उठेगी

मगर धीर राही नहीं तुम रुकोगे,
तुम्हारे अडिग पाँव आगे बढ़ेंगे !
भले राह में आ हिमालय अड़ेगा,
नहीं डग रुकेंगे, शिखर पर चढ़ेंगे !!

वह मुश्किलों में जन्मा और खेला है । विपत्तियाँ उसकी सहचरी हैं--

मुस्करा कर झेल ली यदि आपदा आई बड़ी जो ।
और तय कर ली पलों में सामने मंजिल कड़ी जो ।।
जिन्दगी में रोज ही ओले पड़े, तूफान आये ।
पर न गिर पायी इमारत खाक की मेरी खड़ी जो ।।

दुर्भाग्य का रोना नहीं

वह भाग्य की कारा का बन्दी नहीं, उसने अपने पौरुष से भाग्य को ललकारा है, उसके चरणों से स्वयं ही राहें निकलती आती हैं, उसके हाथों का अमृत-स्पर्श भाग्यों को बदल डालता है--

ओ भाग्य-नियत ! अपना अस्तित्व सँभालो तुम,
हम अब अपना इतिहास बनाने वाले हैं ।
इन फौलादी कदमों के उठते ही जैसे
राहें अपनी ही आप निकलती आती हैं
निर्माण भरे इन हाथों के छू लेने से
तकदीरें अपने आप बदलती जाती हैं
जो राह रोक कर खड़ा तूल का पर्वत है,
हम अंगारों को श्वास बनाने वाले हैं ।

कर्मयोगी की गति अप्रतिहत है, उसके कदमों से धरा और गगन काँपते हैं, चट्टानें चूर-चूर हो जाती हैं, उसकी वाणी में ललकार है और भुजाओं में एक बेचैनी--

मैं बढ़ता भारी कदमों से, कंपित यह धरती और गगन,

चट्टानों की छाती पर लिखता द्वन्द्व-युद्ध का आमन्त्रण ।
मैं प्रलय काल के मेघों-सा घिर बढ़ता जाता एक ओर,
अपनी वाणी में भरे चुनौती के स्वर का भीषण गर्जन ।

नदियों ने कर्मयोगी से बहना सीखा हैं, तूफान ने कर्मयोगी से चलना सीखा है, ज्वालामुखियों ने उसी की आँख की भाषा पढ़ी है, भूचाल उसी के मन्त्रों की आवृत्ति करता है—

नदियों की लहरों पर मेरी उद्दाम जवानी का पानी ।
झझावातों के पंखों में मेरी ही तो गति दीवानी ।।
मेरी आँखों की भाषा ही पढ़ली है ज्वालामुखियों ने ।
मेरे मन्त्रों को दुहराती इन भूचालों की नादानी ।।

कर्मयोगी स्वयं अपनी राह बनाता है, दूसरों के पीछे-पीछे नहीं भागता । कमजोरियाँ उसके भीतर भी जोर मारती हैं किन्तु वह उन्हें विवेक से शासित रखता है--

जिस पथ पर कोई पैर निशानी छोड़ गया
उस पथ पर चलना मेरे मन को रुचा नहीं
काँटे रौंदूंगा, अपनी राह बनाऊंगा,
तुम फूलों भरी डगर की बातें किया करो !
तुम तट पर बैठ भँवर की बातें किया करो ।।

वह तीक्ष्ण कटाक्ष, रेशमी केश-पाश और रंगों के व्यामोह से मन को सुरक्षित निकाल कर वीरानों को आबाद करता है--

नयनों के तीखे तीर, कुन्तलों की छाया,
मन बाँध रही यह जो रंगों की डोरी है
इन गीली गलियों में भरमाया कौन नहीं
यह भूख आदमी की सचमुच कमजोरी है
लेकिन अपने पर विजय नहीं जिसने पायी
उसको मैं कायर कहता हूँ, पशु कहता हूँ ।

मैं इसीलिए, बस, वीरानों में रहता हूँ,–
तुम जादू भरे नगर की बातें किया करो।

वह अभय का साधक है, मृत्यु से उसे कोई भय नहीं। वह स्वयं शापों के लिए चुनौती दे रहा है--

कर लिया विषपान, शिव हूं, मृत्यु मेरा क्या करेगी ?
मैं स्वयं जय हूं, पराजय फिर मुझे क्यों कर वरेगी ?
बन स्वयं नादान मैंने शाप को दे दी चुनौती,
हूँ स्वयं संकल्प-पथ पर सर्वदा बढ़ता रहूँगा।
दीप हूँ, जलता रहूँगा ॥

कर्मयोगी याचना नहीं करता। वह व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के संसार को स्वाहा कर चुका है। वह रुद्र है, उसका पेय है विष, दूसरों को तो वह अमृत ही बाँटता है --

है अमित सामर्थ्य मुझ में याचना मैं क्यों करूंगा ?
रुद्र हूँ, विष छोड़ मधु की कामना मैं क्यों करूंगा ?
इन्द्र को निज अस्थिपंजर जब कि मैंने दे दिया था
घोर विष का पात्र उस दिन एक क्षण में पी लिया था
दे चुका जब प्राण कितनी बार जग का त्राण करने
फिर भला विध्वंस की कटु कल्पना मैं क्यों करूंगा ?

वह मनुष्यों के हृदयों पर शासन करता है न कि अधिकार-लिप्सा से पीड़ित होकर कुर्सी की आराधना करता है—

मारदी ठोकर विभव को बन गया क्षण में भिखारी।
किन्तु फिर भी जल रही क्यों द्वेष से आँखें तुम्हारी ॥
आज मानव के हृदय पर राज्य जब मैं कर रहा हूँ
फिर क्षणिक साम्राज्य की भी कामना मैं क्यों करूंगा ?

चल हट यहाँ से

देवता स्वरूप भाई परमानन्द को राष्ट्रभक्ति के पुरस्कार के रूप में काले पानी की सजा मिली। धर्मपत्नी श्रीमती भाग्यसुधि को

उनके पीछे कितने कष्ट भोगने पड़े ! लोग उनसे बात करते भय खाते थे। अपने ही लोग काटने को दौड़ते थे। भाई जी ने आर्यसमाज और हिन्दू समाज की असीम सेवा की थी किन्तु उनके पीछे किसी ने झांककर भी नहीं देखा। नौजवान बेटी सोमा और सावित्री क्षयरोग से चल बसीं। स्वयं भाग्यसुधि को टी० बी० ने ग्रस लिया। उन्होंने किसी की सहायता स्वीकार नहीं की। प्राईमरी स्कूल में १५) मासिक की नौकरी कर परिवार का भरण-पोषण किसी तरह किया। लोगों मे इतनी क़ायरता थी कि ब्रिटिश सरकार के कोप की आशंका से उनके यहाँ आने से डरते थे। भाई जी मुक्त होने पर रेलगाड़ी से लाहौर पहुंचे। स्टेशन से ताँगे पर बैठकर अड्डे पर उतरे। भाई जी के शब्दों में — 'सांझ का समय था। रौनक बहुत ज्यादा थी। मैं कम्बल में दो कपड़े लपेट उन्हें बगल में दबाये खड़ा था। सोच रहा था, जाऊं कहाँ जाऊं? इतने वर्ष बाद लाहौर का दृश्य अपनी आँखों के सम्मुख देख कर मुझे तो आश्चर्य ने दबा लिया। विचार आया—'यह सब जो मैं देख रहा हूं, कहीं सपना तो नहीं है ?' फिर विचार आया—'इतने काल तक मैं सपना तो नहीं देखता रहा ? यहाँ न मालूम कितनी देर तक मैं ठगा-सा खड़ा रहा। आँखों के सामने चित्र आते थे, जाते थे।'

मेरा मन अन्य विचारों से भरा था। क्या बताऊँ ? कोई ऐसीं परिस्थिति में से गुजरा हो, किसी ने इतने विचित्र परिवर्तन और जीवन के ऊँच नीच देखे हों तो वही मेरी मानसिक स्थिति का अनुमान लगा सकता है। मेरे अन्दर शक्ति नहीं कि बता सकूँ कि मैं किस सकते के संसार में था। नहीं कह सकता वह आश्चर्य था, हर्ष था, सपना था, बेहोशी थी या आत्मा के सम्मुख केवल एक तमाशा हो रहा था।

यह वह मंजिल थी जो सपने और हक़ीकत के बीच होती है। जीवन ने सपने से निकल कर दूसरी अवस्था में आना आरम्भ किया। बीच का समय मैं लोहारी द्वार के चौक में एक कोने से खड़ा व्यतीत कर रहा था। इसके पश्चात् मैं चौंक पड़ा। मेरे मन में आया, आर्य-

समाज मन्दिर चलना चाहिए। मैं अनारकली आर्यसमाज मन्दिर की ड्योढ़ी पर पहुंचा। एक आदमी को संकेत कर अपने पास बुलाया। उसने मुझे भिखारी समझकर दुत्कार दिया—क्या कहता है ? यहाँ क्यों खड़ा है ? चल, हट यहाँ से।' मैं चुप रहा। एक संन्यासी पास से गुजरा। उससे सवाल करने लगा तो उसने जवाब देने की आवश्यकता ही न समझी और हाथ हिला कर अन्दर चला गया।

ये सब बातें वह भी देख रहा था जो आर्यसमाज का चौकीदार था। वह मेरे निकट आ गया। उससे मैंने पूछा-क्या आप भाई परमानन्द की स्त्री का मकान बता सकते हैं ?' उसने उत्तर दिया-जरा रुको। मैं मंत्री जी से पूछकर बताता हूं।

वह अन्दर चला गया। वह बहुत देर के बाद लौटा। कहने लगा—'आइये मैं आपको उसके मकान पर छोड़ आता हूं।' परिणामस्वरूप वह मुझे पास ही घासमंडी के पीछे एक मकान की दूसरी मंजिल को जाने वाली अँधेरी सीढ़ियों की ओर संकेत करके स्वयं वापस लौट गया। जिनकी सेवा आजीवन की उन्होंने कैसा निन्दनीय व्यवहार किया। जब भाई जी पर विदेशी सरकार को उलटने का षड्यन्त्र रचने का अभियोग लगाया गया तब एक स्पेशल ट्रिब्यूनल की नियुक्त की गई जिसमें दो अंग्रेज जज और एक भारतीय न्यायाधीश को रखा गया। भारतीय न्यायाधीश पं० शिवनारायण एडवोकेट ने अपने निर्णय में अंग्रेज न्यायाधीशों के इस निर्णय से मतभेद व्यक्त किया कि भाई जी को फाँसी होनी चाहिए। न्यायमूर्ति पं० शिवनारायण ने अंग्रेजी सरकार के कोप का खतरा उठाकर भी अपना स्वतन्त्र मत दिया और अण्डमान से छूटने पर भाई जी को उन्होंने अपने घर बुला कर सम्मानित भी किया।

कर्मयोगी ही मरने की कला से अवगत है, इसीलिए वह जीवन का अधिकारी बनता है। वह कण्टक-पथ पर चलने का अभ्यासी होता है, इसीलिए अन्ततः वह सम्मान का पात्र बनता है। वह तलवारों की

झंकारों में अपने गीत सजाता है और बरसती गोलियों के बीच विप्लव राग गाता है—

जिसने मरना सीख लिया है, जीने का अधिकार उसी को ।
जो काँटों के पथ पर आया, फूलों का उपहार उसी को ।।
जिसने गीत सजाये अपने
तलवारों के झन झन स्वर पर
जिसने विप्लव राग अलापे
रिमझिम गोली के वर्षण पर
जो बलिदानों का प्रेमी है, है जगती का प्यार उसी को ।

वह हँस कर बलि-पथ का राही बना है । वह अपनी पीड़ाओं पर मुस्कराता है, दूसरों के कष्टों पर रोता है—

हँस-हँस कर एक मस्ती लेकर ।
जिसने सीखा है बलि होना ।।
अपनी पीड़ा पर मुस्काना ।
औरों के कष्टों पर रोना ।।

केवल कर्मयोगी ही राष्ट्र-निर्माण कर सकते हैं । वही राष्ट्र-मन्दिर की नींव बनते हैं । जैसे नींव सबसे नीचे, छिपी-ढँकी रहती है वैसे ही वे अपने जीवन उत्सर्ग से देश में एक नूतन परम्परा का सूत्रपात करते हैं । उनमें ध्वजा बन कर कलश पर फहरने की कामना, वाह-वाही लूटने की इच्छा नहीं होती । इसलिए कवि कर्मयोग के पथ पर अग्रसर होने का आवाहन कर रहा है—

काट कण-कण देह जिसकी दुर्ग का निर्माण होता ।
एक तिल हटने न पाता भूमि में ही प्राण होता ।।
जय-पराजय, अयश-यश की छोड़ करके कामनाएँ ।
रात-दिन निश्चल अटल चुपचाप गढ़ का भार ढोता ।।
शोक में रोता नहीं औ हर्ष में हँसता नहीं जो ।
राष्ट्र की दृढ़ नींव का पाषाण बनना है हमें तो !

राष्ट्र-मन्दिर का पुनर्निर्माण करना है हमें तो !

दीपक निष्काम कर्मयोग का आदर्श है—

सह उपेक्षा शन्यपथ पर ज्योति का आभास लेकर ।
फूँक तिल-तिल देह युग-युग का अमर इतिहास लेकर
कर रहा निर्देश पन्थी, दूर मंजिल है अभी भी
फिर पथिक बढ़ता अमित बल और दृढ़ विश्वास लेकर
उस विरागी दीप का वैराग्य रग-रग में रमा कर
शून्य निर्जन ध्येय-पथ द्युतिमान करना है हमें तो ।

हमें कण्टक पथ का वरण करना होगा । देश के लिए जीना और मरना सीखना होगा । राष्ट्र निर्माण का कार्य असिधारावत् है । उसका सम्पादन करने के लिए हमें जागतिक ऐश्वर्यों की ओर से मुख मोड़ना होगा और अपना जीवन-दीप जला कर दूसरों के मार्ग का अँधेरा दूर करना होगा—

कण्टक-पथ अपनाना सीखें ।
जिये देश के लिए देशहित तिल-तिल कर मर जाना सीखें ।
रागरङ्ग की नवतरंग में माँ की याद भुलाते आये
भूल गये अपने वैभव को, यश औरों का गाते आये
असिधारा का व्रत अपना कर बूँद-बूँद ढल जाना सीखें ।।
बढ़े चलें निज ध्येय-बिन्दु तक जग का सुख ऐश्वर्य भुलाकर
दूरकरें पथका अँधियारा निज जीवन का दीप जला कर,
अडिग रहे जो झंझा में भी ऐसी ज्योति जगाना सीखें ।।

कर्मयोग का पथ आत्म-बलिदान का अग्नि-पथ है । नेताजी सुभाष ने कहा था—'हमारे पास सब कुछ है, केवल एक वस्तु के अतिरिक्त । वह है निःशेष आत्म-बलिदान, सभी विघ्न-बाधाओं का अतिक्रम करते हुए, विपदाओं को तुच्छ समझते हुए, एक आदर्श के पीछे आजीवन अनुधावन की वीरता । हम पूर्ण अन्तःकरण से देश को प्रेम नहीं करते, इसीलिए हमारे मध्य जन्म लेते हैं मीर जाफर और अमीचन्द ।' जिसका

आत्म-विश्वास अजेय हो, वज्रकठोर, आदर्श के प्रति स्थिर लक्ष्यवान्, द्विधा-संशयहीन जो अभीष्ट अर्जन के दुर्गम यात्रापथ में न रुके भय से घबड़ा कर अपने को बचाने न भागे, लक्ष्य-वरण के लिए आत्म-बलिदान कर सके उस अकृपण और निष्कपट व्यक्ति का जयगान कवीन्द्र रवीन्द्र के स्वर में यों मुखरित हुआ है-

उदयेर पथे शुनि कार वाणी
भय नाइ, ओरे भय नाइ।
निःशेषे प्राण, जे करिवे दान
क्षय नाइ, तार क्षय नाइ॥

कर्मयोगी गाता है -

जाय जेनो जीवन चले शध जगत मांझे
तोमार काजे वन्देमातरम् बोले
आभि धन्य हवो मायेर जन्य लांछनादि सहिलें
ओदेर वेत्राघाते कारागारे फांसि कण्ठे झुलिवो।

[माँ ! इस विश्व में जीवन यदि 'वन्देमारतम् कह कर तेरे कार्य में शेष हो जाय तो मैं माँ के लिए लाञ्छना, वेतों की पिटाई, कारावास और फाँसी पर लटककर चढ़ूंगा और धन्य मानूंगा।]

लोक-संग्रह

कर्मयोगी लोक-संग्रह को अपना आदर्श बनाता है। उसका दृष्टिकोण सत्य की रक्षा करना होता है। वह सत्य की रक्षा करते हुए आने वाली विपत्तियों को भली प्रकार जानता है, फिर भी वह अपने को उनसे नहीं बचा सकता। वह धर्म संकट में भी सत्य का त्याग करने और असत्य को अपनाने के लिए तत्पर नहीं होता। उसका यह कठोर स्वभाव सत्यद्वेष्टा अत्याचारियों के स्वार्थ में अवरोध उत्पन्न करता है। उसे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वाले अनाचारियों के हाथों नाना यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

पापी शक्तियाँ कर्मयोगी के व्यावहारिक जीवन को अपने मार्ग का प्रतिबन्ध पाकर उस पर आक्रमण करती हैं। यह आक्रमण बाह्य रूप से किसी एक व्यक्ति पर होते हुए भी वस्तुतः सत्य पर ही होता है। कर्मयोगी अत्याचार का साहसपूर्ण सक्रिय विरोध करता है जिसे दुष्ट-दमन कह सकते हैं और वह अत्याचार से पीड़ित व्यक्तियों की सर्वतोमुखी सहायता करता है जिसे गीताकार ने साधु-परित्राण कहा है।

अत्याचार को आँखों के सामने देखकर भी उसे बर्दाश्त कर लेने की भावना अत्याचार को जन्म देती है। अत्याचार के सम्बन्ध में उदासीनता भी अत्याचार का एक प्रधान कारण । रामावतार शास्त्री का अभिमत है कि कुछ लोग इस उदासीन रहने को भूल से आध्यात्मिकता के रङ्ग में रंगना चाहते हैं, परन्तु वह आध्यात्मिकता की प्रतिकूल दशा है। यह तो अत्याचार का एक प्रधान कारण है। अत्याचार के सम्बन्ध में उदास रहने की भावना वाली मिथ्या आध्यात्मिकता दास-मनोवृत्ति का परिणाम है क्योंकि उदासीनता से दुष्टों को भारी प्रोत्साहन मिल जाता है। उदास होकर अत्याचार देखना सदा अत्याचारी का प्यारा और अनुगामी बन रहने की भावना है। नाम-यश चाहने वाले लोगों का यह स्वभाव होता है कि वे अत्याचारो से तटस्थ रहते हैं और उदासीन रहने में अपना कल्याण देखते हैं। ये लोग स्वार्थी और टुच्चे होते हैं।

अत्याचार से पीड़ित होने वाला व्यक्ति सारे समाज को समान उद्देश्य के लिए संघटित होने का सुयोग प्रदान करता है। विचारशील समाज ऐसे अवसर पर स्वय को संघटित कर अत्याचार को असम्भव बना देता है पर स्वार्थी सम ज अत्याचारों से जूझने वाले कर्मयोगी को अकेला छोड़ देता है और निर्लज्जतापूर्वक तटस्थ रहकर पत्थर का हृदय बनाकर उसे अपने बीच मिटते देखता रहता है। जो बात मनुष्य का मनोदेवता चाहता है उससे बचना आध्यात्मिकता कैसे है ? अत्याचार पीड़ित को अत्याचारी के हाथों नष्ट होते देखना मृत समाज का चिह्न है।

कर्मयोगी न अत्याचार करता है, न अत्याचार बर्दाश्त करता है। वह निडर होता है क्योंकि आस्तिकता और भय साथ-साथ नहीं रह सकते। डरपोक की ईश्वर-भक्ति विडम्बना मात्र है। ईश्वर प्रेमी ही अत्याचार और असत्य का विरोध कर सकता है, अत्याचार को इसलिए सह लेना कि उसका विरोध करने से व्यक्तिगत रूप से कष्ट उठाने पड़ेंगे, नास्तिक का लक्षण है। सच्चे आस्तिक कर्मयोगी समाज का अंग बनकर रहते हैं, समाज में रहते हुए सत्य को अपना रहे हैं, असत्य से जानबूझ कर जूझ रहे हैं, असत्य की अधीनता स्वीकार करने को किसी प्रकार तैयार नहीं है, जो अपना सर्वस्व खोकर भी सत्यमार्ग का त्याग करने को उद्यत नहीं। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में जिस पवित्रता की आवश्यकता है, वही सन्तपन है, वही ईश्वर भक्ति है, वही परमार्थ और वही योगनिष्ठा है। सन्त का परमार्थी जीवन उसके दैनिक व्यवहार से ही झाँकता है। व्यावहारिक जीवन-क्षेत्र से अलग होकर सन्तपने का कोई मूल्य नहीं।

कर्मयोगी अपनी भौतिक सम्पत्ति को अपनी न मानकर समाज की मानते हैं, उस पर व्यक्तिगत अधिकार न मानकर सत्यनारायण की धरोहर मानते हैं। वे पड़ौसी पर होने वाले अत्याचार को अपने उपर होने वाला मान कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसके निराकरण का उद्योग करते हैं। वे अपने अत्याचारपीड़ित साथियों की सहायता में कूदकर सर्वभूतात्मैक्य का अलौकिक आनन्द उठाते हैं।

सत्य की सेवा का अवसर उपस्थित होने पर व्यक्ति धन के मोह के कारण कृपण बनकर अपनी भौतिक सामर्थ्य का सेवार्थ विनियोग नहीं करता। कुछ लोग धन के प्रति ऐसा मोह रखते हुए भी ईश्वर भक्ति और सत्सङ्ग का ढोंग करते हैं। यह दिखावा इसलिए है क्योंकि सत्य के लिए अपना सर्वस्व खो डालने वाले सन्त तो आँखों के सामने उत्पीड़न के भक्ष्य बन रहे हों और वे ईश्वरभक्ति तथा सत्संग के दम्भ में उनकी उपेक्षा कर रहे हों, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे

लोग शाब्दिक वाद-विवाद और वाग्विलास को ही सत्सङ्ग समझने की भूल कर रहे हैं । सत्य की केवल चर्चा सत्सङ्ग नहीं, सत्य की व्यावहारिक सहायता ही सत्सङ्ग है ।

समाज की मनोदशा विकृत हो जाने पर समाज अत्याचार का विरोध करने से जी चुराने लगता है । वह उदासीन रहने में अपना कल्याण मानने लगता है इस निर्लज्ज उदासीनता को वह आध्यामिकता में शुमार करता है । आत्मघाती समाज यह मानता है कि अत्याचार होते समय चुप रहना चाहिए और अत्याचार बन्द हो जाये तो उसका विरोध करना चाहिए । वह यह समझता है कि अत्याचार का विरोध करना अत्याचारी को छेड़ना है । जिस कारण से एक सत्यनिष्ठ पर अत्याचार हो रहा है, यदि दूसरा बीच में बोलेगा तो उस पर भी होने लगेगा । यदि हम उस कारण से बचते रहेंगे तो अत्याचार से भी बचे रहेंगे । इसलिए हमें अत्याचारी को नहीं टोकना चाहिए । सुख-समृद्धि और मान-प्रतिष्ठा के लोभ में अन्धे समाज का चिन्तन ऐसा ही विकृत हो जाता है और इससे अत्याचारियों का मनोबल और बढ़ता है ।

कर्मयोगी जानता है कि अत्याचार का दमन न करने से ही अशान्ति भड़कती है । मूर्खों के ऊपर कर्त्तव्य का कोई बोझ नहीं होता । कर्मयोगी अत्याचारियों का हौसला पस्त करने के लिए समाज को संघटन-सूत्र में पिरोता है और उन्हें व्यक्तिगत स्वार्थ की संकीर्ण परिधि से बाहर निकालकर सत्यरक्षा के व्यावहारिक धर्म की दीक्षा देता है । गीता ने इसी लोकसंग्रह को कर्मयोग का दिशा निर्देशक तत्त्व माना है और अन्याय का विरोध, अत्याचारपीड़ितों की सहायता और उसके माध्यम के रूप में सामाजिक संघटन—इस त्रिविध कर्म को 'दिव्यकर्म' की संज्ञा दी है और इसके अभाव में जनता का विनाश, लोक-सांकर्य, अधर्म अभ्युत्थान और धर्म-ग्लानि के जडतावाद साम्राज्य की चेतावनी दी है ।

—:※:—

कर्मयोग की बाधाएँ

कर्मयोग जीवन की कला भी है और शास्त्र भी। एक कर्मयोगी जब अपने मार्ग पर अग्रसर होता है तब नाना प्रकार के विघ्न उसे साधना-पथ से भ्रमित करना चाहते हैं, बहका कर गलत दिशा में ले जाना चाहते हैं। कभी यश की लालसा उसे आन्दोलित करना चाहती है, कभी धन का अहङ्कार और कुल का मिथ्या गर्व उसे भटकाना चाहता है, कभी रमणियों के हाव-भाव उसे इष्ट दिशा से मोड़ना चाहते हैं और कभी क्रोध उसके मानसिक सन्तुलन को चौपट करना चाहता है।

तृष्णा का जाल

तृष्णा कर्मयोगी के लिए बहुत बड़ी बाधा है। पद्मपुराण का कथन है—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ॥
चक्षुः श्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते।
सूच्या सूत्रं यथावस्त्रे संसूचयति सूचिकः ॥
तद्वत्संसारसूत्रं हि तृष्णा सूच्योपनीयते।
यथा शृङ्गं रुरोः काये वर्धमाने च वर्धते ॥
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते।
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा।
अधर्मवहुला चैव तस्मात् तां परिवर्जयेत् ॥

(सृष्टि० १६।२५४-२५७)

'जब मनुष्य का शरीर जीर्ण हो जाता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं, किन्तु धन और जीवन की आशा बूढ़े होने पर जीर्ण नहीं होती। आँख और कान जीर्ण हो जाते हैं, पर एक

तृष्णा ऐसी है जो तरुणी ही बनी रहती है। जैसे दरजी वस्त्र में सुई द्वारा सूत का प्रवेश करता है, उसी प्रकार तृष्णा रूपी सुई से संसार रूपी सूत्र का अपने अन्तःकरण में प्रवेश होता है, जैसे बारहसिंगे के सींग शरीर बढ़ने के साथ बढ़ते हैं वैसे ही धन की वृद्धि के साथ-साथ तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं, उसका पेट भरना कठिन होता है, वह सैकड़ों दोषों को ढोये फिरती है, उसके द्वारा अनेक अधर्म होते हैं। अतः तृष्णा त्याज्य है।'

महर्षि शौनक ने इसे सारे पापों की जड़ और उद्वेग करने वाली बताया है—

तृष्णा हि सर्व पापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्म बहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
महा० वन० २।३४)

'यह तृष्णा महापापिनी है, उद्वेग को जन्म देने वाली है, अधर्म-मय, भयङ्कर और समस्त पापों की जड़ है।'

सन्त सुन्दरदास का मत है कि तृष्णा ने तीनों लोकों का आहार कर डाला, सातों समुद्रों का पानी पी डाला, यह किसी को जीभ दिखाती है और किसी को आँख मगर तब भी इसकी भूख शान्त नहीं होती —

तीनहुँ लोक अहार कियो सब,
सात समुद्र पियो पुनि पानी।
और जहाँ तहँ ताकत डोलत,
काढ़त आँख, डरावत प्रानी॥
दाँत दिखावत, जीभ हलावत,
याहिते मैं यह डाकिनि जानी।
सुन्दर खात भये कितने दिन,
है तृस्ना अजहूँ न अघानी॥

घरबार छोड़ा, प्रेम-सूत्र विच्छिन्न कर डाले, शरीर पर भस्म

मल ली, धूप, जाड़ा और वर्षा को भी सहन किया, पंचाग्नि तप किया, पेड़ के नीचे रहकर भूख का भी कष्ट सह लिया, आसन मार कर बैठना सीख लिया मगर तृष्णा से पिण्ड नहीं छूटा --

गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी ।
मेघ सहे सिर सीत सहै तन, धूप समै जु पचागिनि बारी ।।
भूख सहे रहि रूख तरे पर सुन्दर दास सहे दुख भारी ।
डासन छाँड़ि के कासन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी ।।

महर्षि विश्वामित्र का अभिमत है कि भोगों को भोगने से कामनाओं का शमन नहीं होता प्रत्युत जैसे घी डालने से आग भड़क जाती है उसी तरह उपभोगों से भोग-लालसा और भड़कती है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णावर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

पद्म० सृ० १६।२६३

सन्त कबीर अपना अनुभव बताते हुए कहते है—

की त्रिस्ना है डाकिनी, की जीवन का काल ।
और-और निशिदिन चहै, जीवन करै बिहाल ।।
त्रिस्ना-अग्नि प्रलय किया, तृप्त न कबहूँ होय ।
सुर, नर, मुनि औ' रंक सब, भस्म करत है सोय ।।

पाप का बाप

भगवान् कृष्ण काम और क्रोध को कर्मयोगी का सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं । उनके अनुसार इन दोनों का जन्म रजोगुण से होता है । स्वामी चरणदास जी महाराज काम के सम्बन्ध में कहते हैं—

यह काम बुरा रे भाई । सब देवै तन बौराई ।
पंचों में नाक कटावै । वह जूती मार दिलावै ।।
मुँह काला गधा चढ़ावै । बहु लोग तमासे आवै ।
झिड़का ज्यों डोलै कुत्ता । सबही के मन सूँ उत्ता ।।

कोइ नीके मुख नहिं बोलै । सरमिंदा हो जग डोलै ।
वह जीवत नरक मँझारी । सुन चेतो नर औ' नारी ॥
तन मन जोरे काम ही चित कर डाँवा डोल ।
धरम सरम सब खोयकै, रहै आप हिय खोल ॥

मातृवत् परदारेषु

महाराज छत्रसाल नगर में स्वयं भ्रमण कर नागरिकों के सुख दुःख की जानकारी करते थे । महाराज की सुगठित काया ऊंचा माथा बड़े-बड़े नेत्र और लम्बी भुजायें किसी को मुग्ध करने के लिए पर्याप्त थीं । एक नारी महाराज के समीप पहुंची और हाथ जोड़ कर बोली—'मैं बड़े कष्ट में हूं ।'

महाराज ने कहा—'आपको क्या कष्ट है ?'

युवती ने कहा—'अगर श्रीमान् कष्ट निराकरण करने का वचन दें तो प्रार्थना करूँ ।'

सरल हृदय महाराज द्वारा आश्वासन दिये जाने पर वह तरुणी विचित्र अपाङ्ग-भङ्गिमा के साथ बोली—'मैं सन्तान हीन हूं । मुझे आप सदृश पुत्र चाहिए ।'

छत्रसाल दो क्षण स्तब्ध रह गये । शीघ्र ही उस स्त्री के चरणों में मस्तक झुकाते हुए उन्होंने कहा-'आपको मेरे समान पुत्र चाहिए । मुझे ही आप अपना पुत्र समझ लें ।' और वीरवर छत्रसाल ने उसे राजमाता की भाँति स्वीकार किया । कर्मयोगी नारियों में मातृ बुद्धि रखता है ।

अध्ययन-काल में नेपोलियन को एक बार एक नाई के घर रहना पड़ा । वह सुन्दर और सुदर्शन युवक थे । नाई की पत्नी उनके सौन्दर्य से मुग्ध होकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टाएँ करती । नेपोलियन एकाग्र मन से अध्ययन में लगे रहते । वह जब भी हँसने-बोलने आती, उसे पुस्तकों में डूबा हुआ देखकर बहुत खिन्न होती ।

नेपोलियन अपनी क्षमता के कारण देश के प्रधान सेनापति चुने गये। एक बार वे अपने पुराने मकान-मालिक के घर गये। नाई की स्त्री दूकान पर बैठी थी। वे उसके सामने जाकर खड़े हो गये और बोले—'तुम्हारे यहाँ बोनापार्ट नाम का एक युवक रहता था, तुम्हें उसकी कुछ स्मृति है?'

नाईन झुंझलाकर बोली-रहने भी दीजिये। ऐसे रूखे व्यक्ति की चर्चा करने को भी मन नहीं करता। उसे न गाना आता था, न नाचना। सँभल कर बात करना तक उसे नहीं आता था। वह तो बस किताबों में ही सिर गड़ाये रहता था।'

हँसते हुए नेपोलियन ने उत्तर दिया—'ठीक कहती हो देवि! संयम से ही मनुष्य महान् बनता है। बोनापार्ट तुम्हारी रसिकता में उलझ गया होता तो देश का प्रधान सेनापति होकर आज तुम्हारे सामने खड़ा कैसे होता?'

क्रोध

श्रीकृष्णमिश्र के मत में क्रोध व्यक्ति को अन्धा बना देता है, चेतन को भी जड़ बना देता है। क्रोध के कारण मनुष्य अपना कर्त्तव्य भूल जाता है—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति॥

'मैं संसार को अन्धा और बहरा बना देता हूं। मैं धीर और चेतन को जड़ बना देता हूँ। मेरे कारण मनुष्य अपना कर्त्तव्य भूल जाता है और भले की बात को भी सुनता नहीं। अच्छे से अच्छा बुद्धिमान भी क्रोध में अपनी स्मृति खो बैठता है।'

स्वामी चरणदास जी के विचार में क्रोध मर्यादा, बुद्धि, प्रभु-भक्ति और दया को समूल विनष्ट कर देता है—

क्रोध महा चण्डाल है, जानत है सब कोय।
जाके अँग बरनन करूँ, सुनियो सुरत समोय ॥
जेहि घट आवै धूम सूँ, करे बहुत ही ख्वार।
पति खोवै बुधि कूँ हनै, कहा पुरुष कहा नार ॥
वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै। वह मारहि मार पुकारै।
वह सब तन हिंसा छावै। कहिं दया न रहने पावै॥
वह गुरु सूँ बोलै बेंड़ा। साधू सूँ बोलै ऐंड़ा।
वह हरि सूँ नेह छुटावै। वह नरक माहि लै जावै॥
वह आतमघाती जानौ। वह महामूढ़ पहिचानौ।
सोटों की मार दिलावै। कबहूँ कै सीस कटावै॥

सन्त दादू दयाल कहते हैं—

काम कठिन घट चोर है, घर फोड़ै दिन रात।
सोवत साह न जागई, तत्त वस्त लै जात॥
ज्यों घुन लागै काठ कौ, लोहै लागै काट।
काम किया घट जाजरा, दादू बारह बाट॥

कबीरदास जी कहते है काम और राम उसी तरह एक जगह नहीं टिक सकते जैसे रात और सूरज एक साथ नहीं रह सकते। क्रोध सारी साधना को चौपट कर देता है। विषयासक्ति भक्ति के वित्त का अपहरण कर लेती है--

कामी कबहुँ न गुरु भजै, मिटै न संसय सूल।
और गुनाह सब बकसिहौं, कामी डारन मूल॥
जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
दोनों कबहूं ना मिलै, रविरजनी इक ठाम॥
कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहंकार॥
जब मन लागा लोभ से, गया विषय में मोय।
कहै कबीर विचारि कै, कस भगती धन होय॥

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह ।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजनी येह ।।

अन्याय की कमायी

कर्मयोगी परिश्रम द्वारा उपार्जित वित्त का संचय करता है और ऐसे धन का ही सर्वत्र प्रयोग करता है । अर्थशौच सभी पवित्रताओं में महत्वपूर्ण माना गया है और वित्तशाठ्य की सर्वत्र निन्दा की गयी है । पसीने की स्वल्प कमाई वेईमानी के पुष्कल द्रव्य की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठाप्रद, टिकाऊ और महिमामय होती है । अन्याय द्वारा कमाया धन कई पीढ़ियों को विनष्ट कर देता है ।

एक रात की बात है । एक सम्राट् की नींद यकायक टूट गयी । पलंग पर पड़े रहने की अपेक्षा वह बाहर निकल आया । पहरेदार ने अभी-अभी बारह के घण्टे वजाये थे । पास की बैठक में तीव्र प्रकाश हो रहा था । वहाँ बही खातों के ढेर के बीच वित्तमन्त्री किसी गहरी चिन्ता में डूबा दिखाई दे रहा था । सम्राट् कुछ देर तक यह दृश्य देखता रहा और मेरे राज्य के अधिकारी ऐसे परिश्रमी और लगनशील हैं, इस विचार से उसे अभिमान हुआ ।

'क्यों, बड़ी चिन्ता में डूब रहे हो, क्या बात है ? मन्त्री ने उठ कर स्वागत किया ।

'गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष लगान की वसूली के आँकड़े कुछ अधिक थे, इसलिए मैं स्वयं ही उस कारण को खोज निकालने के लिए जागरण कर रहा हूँ ।

'तो हिसाब में भूल हुई होगी ।'

'हिसाव भी जाँच लिया । जोड़-वाकी सब ठीक है ।'

'तब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने । लगान तो बढ़ा ही है । इसमें चिन्ता की कौन-सी बात है ? रात बहुत चली गयी है, अब इस बखेड़े से कल निपटना ।' सम्राट् ने उकता कर मुँह फेर लिया ।

'आमदनी बढ़ी है यह ठीक है, परन्तु यही तो साम्राज्य के लिए चिन्ता का कारण है। लगान की कमी सहन की जा सकती है, परन्तु अन्याय की एक कौड़ी भी खजाने में आ जाय तो वह सारे साम्राज्य के अङ्गों से फूट-फूटकर निकलती है। श्रीमान् ! किसानों की पैदावार नाम मात्र की है। गत वर्ष भीषण गर्मी से नदियों का जल भी सूख गया था। जल सूखने से तटीय भूमि निकल आयी थी। इसी भूमि में जो कुछ उत्पन्न हुआ उससे सरकारी कोश में अधिक धन आया।'

'नदी का जल सूखना एक ईश्वरीय कोप है। इस कोप को सिर लेकर लगान की मौज लेने वाली सत्ता कब तक टिकेगी ? यह अन्याय का पैसा है। ऐसी एक कौड़ी भी राजकीय कोश में अभीष्ट नहीं। लगान की वृद्धि नहीं अपितु न्याय की वृत्ति ही इस साम्राज्य की मूल भित्ति है।' सम्राट् ने चलते-चलते कहा।

आत्मसंयम—सभी उन्नतियों का द्वार

इन्द्रिय-भोगों की दासता से संसार बुराइयों का पुंज और अमङ्गलमय प्रतीत होता है और हृदय निराशा से आक्रान्त हो जाता है। मनोजय की साधना से निराशा दूर भाग जाती है जागतिक जीवन में एक अन्तर्हित ससामञ्जस्य का दर्शन होता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—'जिन लोगों ने अपने मन पर विजय नहीं प्राप्त की है, उनके लिए यह संसार या तो बुराइयों से भरा है, या अधिक से अधिक, अच्छाइयों और बुराइयों का एक मिश्रण है। परन्तु यदि हम अपने मन पर विजय प्राप्त कर लें, तो यही संसार सुखमय हो जाता है। फिर हमारे ऊपर किसी भी बात के अच्छे या बुरे भाव का असर न होगा—हमें कहीं भी विशृंखलता दिखायी न देगी, हमारे लिए सभी कुछ सामंजस्यपूर्ण हो जायगा। देखा जाता है, लोग आरम्भ में संसार को नरक-कुण्ड समझते हैं, वे ही यदि आत्मसंयम की साधना में सफल होते जाते हैं तो इस संसार को ही स्वर्ग समझने लगते हैं। यदि हम सच्चे

कर्मयोगी हैं और इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अपने को शिक्षित करना चाहते हैं तो हम चाहे जिस अवस्था से आरम्भ करें, यह निश्चित है कि हमें अन्त में पूर्ण आत्म-त्याग का लाभ होगा ही । और ज्यों ही इस कल्पित अहम् का नाश हो जायगा, त्यों ही वही संसार, जो हमें अमंगल से भरा प्रतीत होता था, अब स्वर्गरूप परमानन्द से पूर्ण प्रतीत होने लगेगा। यहां की हवा तक बदल कर मधुमय हो जायगी और प्रत्येक व्यक्ति भला प्रतीत होने लगेगा ।'

महाभारतकार का मत है कि अजितेन्द्रिय व्यक्ति भगवान् को नहीं पा सकता—

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥
इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥
इन्द्रियाणां यमे यत्तो भवराजन्नतन्द्रितः ।
एतज्ज्ञानञ्च पन्थाश्च येन यान्तिमनीषिणः ॥

(उद्योग० ६६।१७-२०)

'कोई अजितेन्द्रिय मनुष्य ईश्वर को नहीं पा सकता । इन्द्रिय-जय के अतिरिक्त ईश्वर को पाने का कोई मार्ग नहीं । इन्द्रियां बड़ी प्रबल हैं, इन्हें जीतने का साधन भोगों का सतर्कता पूर्ण परित्याग है । ज्ञान के मुख्य कारण दो हैं—प्रमाद और हिंसा से दूर रहना । इन्द्रियों को सावधानी से अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए । वास्तव में यही ज्ञान है और यही मार्ग है जिसके द्वारा बुद्धिमान लोग परम पद को दिशा में अग्रसर होते हैं ।'

असन्तुष्टः द्विजो नष्टः

महर्षि गौतम के मत में असन्तोष सबसे बड़ा दुःख और सन्तोष सबसे बड़ा सुख है—

सर्वस्त्विन्द्रियचलोभेन सङ्कटान्यवगाहते ।
सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥
उपानद्गूढ पादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ।
सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
असंतोषः परं दुःखं सन्तोषःपरमं सुखम् ।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् सन्तुष्टः सततं भवेत् ॥
(पद्म० सृष्टि० १६।२५८–२६१)

'इन्द्रियों की चपलता से सभी को मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं । जिसके चित्त में सन्तोष है, उसके लिए सर्वत्र सम्पत्ति ही सम्पत्ति है, जिसके पैर में जूते हैं, उसके लिए सारी पृथ्वी मानों चमड़े से आच्छादित है। सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त और शान्त मन वाले व्यक्तियों को जो सुख प्राप्त है, वह धन के लिए इधर-उधर दौड़ने वाले मनुष्यों को कहाँ ? असन्तोष से बढ़ कर दुःख नहीं, सन्तोष से बढ़ कर सुख नहीं, अतः सुख के इच्छुक मनुष्य को हमेशा सन्तोष का सेवन करना चाहिए ।'

शिवाजी को पत्र

सन्त तुकाराम लोहगाँव में थे । छत्रपति महाराज शिवाजी ने कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों के साथ बहुत-सी मशालें, घोड़े तथा मूल्यवान् जवाहर भेजे और उनसे पूना पधारने की प्रार्थना की । तुकाराम जी ने उन पदार्थों को हाथ तक नहीं लगाया । सारी वस्तुएँ लौटाने के साथ ही उन्होंने छत्रपति को नौ अभंग लिख कर भेजे—

'मशाल, छत्र और घोड़ों को लेकर मैं क्या करूँ ? यह सब मेरे लिए शुभ नहीं हैं । हे पण्ढारीनाथ ! अब मुझे इस प्रपञ्च में क्यों डालते हो ? मान और दम्भ का कोई काम मेरे लिए शूकरी विष्ठा ही है । आप दौड़ कर आइये और इससे मुझे बचाइये ।

मेरा चित्त जिसको नहीं चाहता, वही तुम मुझे दिया करते हो,

मुझे क्यों इतना तंग कर रहे हो ? मैं संसार से अलग रहना चाहता हूं, विषय का संग चाहता ही नहीं। मैं चाहता हूँ—एकान्त में रहूं और किसी से कुछ भी न बोलूँ। मन चाहता है कि सब विषयों को वमन के समान त्याज्य समझूँ, मैं तो यह चाहता हूँ, परन्तु हे नाथ ! करने धरने वाले तो तुम्हीं हो।

मैं क्या चाहता हूँ सब तुम्हें पता है। परन्तु जान कर भी तुम टाल देते हो। यह तो तुम्हारी आदत ही बन गयी है कि जो भी तुम्हें चाहता है तुम उसके सामने ऐसी-ऐसी चीजें लाकर रखते हो कि जिससे वह उनमें फँस कर तुम्हें भूल जाय। परन्तु हे नाथ ! तुका ने तो तुम्हारे चरणों को जोर से पकड़ लिया है। देखूं तो सही, तुम इन्हें कैसे छुड़ाते हो ?'

चींटी और सम्राट्–दोनों ही मेरे लिए एक से हैं। मोह और आशा तो कलिकाल की फांसियाँ हैं। मैं इनसे छूट गया हूँ। मेरे लिए अब सोना और मिट्टी—दोनों बराबर हैं। सारा वैकुण्ठ घर बैठे ही मेरे यहां आ गया है। मुझे किस बात की कमी है !'

मैं तो तीनों लोकों के सारे वैभव का स्वामी बन गया हूँ। सबके स्वामी भगवान् मेरे माता-पिता मुझे मिल गये हैं, अब मुझे और क्या चाहिये ? त्रिभुवन का सारा बल तो मेरे ही अन्दर आ गया है। अब तो सारी सत्ता मेरी है।

फिर आप मुझे दे ही क्या सकते हैं ? मैं तो विट्ठल को चाहता हूँ। हाँ, आप उदार हैं, चकमक पत्थर देकर पारस लेना चाहते हैं, प्राण भी दें तथापि भगवान् की एक बात की भी बराबरी नहीं हो सकेगी। धन क्या देते हैं ? धन तो तुका के लिए गोमांस के समान है। ...बड़े-बड़े पर्वत सोने के बनाये जा सकते हैं, वन के तमाम पेड़ों को कल्प वृक्ष बनाया जा सकता है, नदियों और समुद्रों को अमृत से परिपूर्ण किया जा सकता है, मृत्यु को रोका सकता है, सिद्धियाँ प्राप्त की जा

सकती हैं। यह सब हो सकता है, परन्तु प्रभु के चरणों का प्रेम प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन सब सिद्धियों से भगवत्पदारविन्दों की प्राप्ति नहीं होती। श्री विट्ठल के ऐसे परम दुर्लभ, परम पावन, आनन्द देने वाले श्री चरण बड़े भाग्य से मुझे मिल गये हैं, इनके सामने अब मैं इन मशालों, छत्रों और अश्वों को कहाँ जगह दूं?

लोभ से पतन

कर्मयोगी को तो स्वर्ग की इच्छा भी बाधक है—

घट आवै सन्तोष ही, काहु चहै जग भोग।
स्वर्ग आदि लौ सुख जिते, सबकूं जानै राग॥

लोभ सन्तोष का शत्रु है लोभ का मन्त्री है असत्य और तृष्णा उसकी पत्नी है—

लोभ नीच बरनन करूँ, महापाप की खानि।
मंत्री जाका झूँठ है, बहुत अधरमी जानि॥
तृस्ना जाकी जोय है, सो अंधा करि देय।
घटी बढ़ी सूझै नहीं, नहीं काल का भेय॥

चरणदास जी कहते हैं कि लोभ से मान की हानि होती है, पराधीनता आती है, धर्म का ह्रास होता है और बुद्धि में खोट आती है—

लोभ घटावै मान कूँ करै जगत आधीन।
धर्म घटा भिष्टल करै, करै बुद्धि को हीन॥

सम्पत्ति या भक्ति?

सन्त त्यागराज दक्षिण भारत के कबीर थे। ये 'त्याग-ब्रह्म' कहलाते हैं और महर्षि वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। उन दिनों तंजौर में एक मराठा नरेश शासन करता था। वह विद्या और कला मर्मज्ञ एवं गुणाग्राही नरेश था। एक दिन राजा ने छिपकर त्यागराज का एक भजन सुन लिया और उनकी कला पर मुग्ध हो गया। दूसरे

दिन सन्त के पास राज-पण्डित यह सन्देश लेकर आये कि राजा उनसे गुणानुवाद सुनना चाहते हैं। पण्डित ने वचन दिया कि आपको बहुत-सा स्वर्ण तथा निवास के लिए एक महल मिलेगा। गरीब कवि और कीर्तनकार के लिए यह कितना बड़ा प्रलोभन था! आठ पंक्तियों की एक स्तुति रचकर गा दो और दूसरे दिन इतने बड़े ऐश्वर्य के मालिक बन जाओ। पर त्यागराज इस बात पर हँस दिये, उन्होंने भगवान् राम की प्रतिमा पर एक दृष्टि डाली, थोड़ी देर ध्यान में मग्न हो गये फिर कल्याणी राम में एक पद गाकर उन्होंने राजा की बात का उत्तर दिया—'रे मन! सच-सच बता. अधिक बड़ा सुख कौन है? निधि या सन्निधि? राजा का वैभव या इन राम की पूजा जो मेरे सम्मुख उपस्थित हैं? अभिमान के पुतले किसी मनुष्य की प्रशंसा या भगवन्महिमा? मुझे बता दे, मन, कि मेरे जीवन के लिए अधिक सुख देने वाला क्या है? पतितपावनी भागीरथी में शान्ति और संयम का स्नान या इन्द्रिय-सुखों के गड्ढे में गोते लगाना? रे मन, मुझे सच-सच बता, अधिक बड़ा सुख कौन है?' राजा को जब यह हाल मालूम हुआ तब उन्होंने यह अनुरोध उनसे किया कि आप एक बार राज-सभा में आकर कम से कम अपना भजन तो सुना जाय।' परन्तु त्यागराज भजन सुनाने भगवान् राम की नित्य राज सभा को छोड़ और कहीं नहीं जाते थे। उन्होंने राजा के पास कहला भेजा—'रामभक्ति ही मेरा साम्राज्य है, राम के लिए राम के सामने गाना ही मेरा एक मात्र सुख है।' इस तरह भिक्षावृत्ति से रहते हुए, साधुओं को खिलाते-पिलाते त्यागराज फकीरी में ही मस्त रहे।

अभिमानी प्राय: पतन के गर्त में गिरते हैं। ईश्वर के पास वही पहुंचता है जो अहङ्कार से मुक्त है। वस्तुत: यह अभिमान नरक की जड़ है। विचार करने से अहङ्कार नष्ट होता है—

अभिमानी भींजे गये, लूट लिये धन धाम।
निर अभिमानी ह्वै चले, पहुँचे हरि के धाम॥

चरनदास यों कहत हैं, सुनियो सन्त सुजान।
मुक्तिमूल आधीनता, नरक मूल अभिमान॥

दादू जी का विचार है कि अहम् और ईश्वर दोनों साथ-साथ हृदय में नहीं रह सकते। 'अहम' ही द्वैत है, एक आवरण है—

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बरीक है, दूजै को नहिं ठाम॥
दादू आपा जब लगे, तब लगि दूजा होय।
जब यहु आपा मिटि गया, तब दूजा नहिं कोय॥
दादू है कौं भय घणा, नाहीं कौं नछु नाहिं।
दादू 'नाहीं' होय रह, अपणे साहब माहिं॥

निर्बलता का अभिशाप

दुर्बलता बहुत बड़ा पाप है। दुर्बलता का परित्याग कर अभय धारण किये बिना कर्मयोग के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। भारतीय संस्कृति ने बार-बार अभय का सन्देश दिया है। निर्भीक व्यक्ति ही साहस के साथ सत्य कह सकता है और अन्याय का विरोध कर सकता है। दुर्बल व्यक्ति सदाचारी नहीं हो सकता। निर्भीक व्यक्ति ही अपने कर्त्तव्य का अनुष्ठान दृढ़ता के साथ अविचलित रहते हुए कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, 'दुर्बलतामात्र ही सर्वथा घृणास्पद और परित्याज्य है। हमारे दर्शन, धर्म अथवा कर्म के भीतर - हमारी समस्त शास्त्रीय शिक्षाओं के भीतर–यही एक मुख्य भाव है, जो मुझे पसन्द आता है। यदि तुम वेदों को पढ़ो तो देखोगे कि उसमें 'नाभयेत्' 'अभीः' अर्थात् किसी से भी डरना नहीं चाहिए – यह बात बार-बार कही गयी है। भय दुर्बलता का चिह्न है और यह दुर्बलता हो ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग से हटाकर उसे नाना प्रकार के पाप-कर्मों की ओर खींच लेती है। इसलिए संसार के उपहास अथवा व्यंग की ओर तनिक भी ध्यान न देकर मनुष्य को निर्भय होकर अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए।'

फलाशा ही बन्धन

फलासक्ति कर्मयोग की साधना का शत्रु है। फल में आसक्ति ही बन्धन और माया है। फलाशा से शून्य साधक हो सच्चा कर्मयोगी है। कर्मों का त्याग करना ढकोसला है। त्याग का वास्तविक आशय तो है कर्म के फल के प्रति लगाव और आसक्ति के फन्दे को काटना। फलासक्ति कर्त्तव्य के सम्यक् निर्वाह में रोड़ा अटकाती है तथा व्यक्ति की स्वाधीनता को नष्टकर उसे गुलाम बना डालती है। फलासक्त ही पराधीन है क्योंकि स्वाधीनता केवल बाहरी बन्धनों के अभाव तक ही सीमित नहीं है। स्वाधीनता और पराधीनता मन की सन्तान हैं। फलासक्त मन पराधीन है और अनासक्त मन मुक्त और स्वतन्त्र है। कर्मयोगी को फलाशा की यह डोर साहस के साथ काट डालनी पड़ती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'कर्मयोग कहता है कि तुम निरन्तर कर्म करो किन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो। अपने को किसी भी विषय के साथ एक मत कर डालो—अपने मन को सदैव स्वाधीन रखो। संसार में तुम्हें जो सुख-दुःख दिखाई पड़ते हैं वे तो विश्व के अवश्यम्भावी व्यापार हैं। दारिद्र्य, सम्पत्ति, सुख—ये सब क्षणभंगुर ही हैं। वास्तव में हमारे प्रकृत स्वभाव से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा प्रकृत स्वरूप तो सुख और दुःख से एकदम परे है, प्रत्यक्ष और कल्पना-गोचर विषयों के बिलकुल अतीत है, परन्तु फिर भी हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। क्लेश आसक्ति से ही उत्पन्न होता है, कर्म नहीं। ज्यों ही हम अपने आप को एक कर डालते हैं त्यों ही क्लेश उत्पन्न होता है, परन्तु यदि हम अपने को उससे पृथक् रखें तो हमें वह क्लेश छू तक नहीं सकता। यदि किसी दूसरे मनुष्य का कोई सुन्दर चित्र जल जाता है, तो देखने वाले व्यक्ति को कोई दुःख नहीं होता परन्तु यदि उसका अपना चित्त जल जाय तो उसे कितना दुःख होता है। ऐसा क्यों? दोनों ही चित्र सुन्दर थे और सम्भव है, दोनों एक ही मूल चित्र की नकल रहे हों, परन्तु एक दशा में उस व्यक्ति को

बिल्कुल क्लेश नहीं हुआ, पर दूसरी में बहुत हुआ। इसका कारण यही है कि पहली दशा में वह अपने को चित्र से पृथक् रखता है, परन्तु दूसरी दशा में अपने को उससे एक रूप कर देता है। यह 'मैं' और 'मेरा' ही समस्त क्लेशों की जड़ है। अधिकार की भावना के साथ ही स्वार्थ आ जाता है और स्वार्थपरता से ही क्लेश उत्पन्न होता है। प्रत्येक स्तर पर कार्य और विचार हमें किसी न किसी वस्तु से आसक्त कर देता है और हम तुरन्त ही उस वस्तु के दास बन जाते हैं। चित्त का प्रत्येक स्पन्दन जिसमें 'मैं' और 'मेरे' की भावना रहती है, हमें उसी क्षण जंजीरों से जकड़ कर गुलाम बना देता है।

दुराग्रह

दुराग्रह से असहिष्णुता का जन्म होता है और वायुमण्डल उद्वेगकारक, अशान्त और विषाक्त हो जाता है। असहिष्णुता से क्रोध, घृणा और निर्ममता की उत्पत्ति होती है। चारों ओर क्लेश और कलह का दृश्य उपस्थित हो जाता है। कर्मयोगी अपने दृष्टिकोण को ही अन्तिम सचाई नहीं मानता किन्तु स्याद्वादियों के समान दूसरों के मत मे भी अच्छाई और औचित्य की सम्भावना मानता है। दुराग्रह लोकसंग्रह का शत्रु है क्योंकि इससे विघटन पनपता है और संघटन का ह्रास है। देवात्मा विवेकानन्द के शब्दों में, 'जब हमें यह ज्ञान हो जायगा कि संसार कुत्ते की टेढ़ी दुम की तरह है और कभी सीधा नहीं हो सकता, तब हम दुराग्रही नहीं होंगे। यदि संसार में यह दुराग्रह, यह कट्टरता न होती, तो अब तक यह बहुत उन्नति कर लेता। यह सोचना भूल है कि धर्मान्धता द्वारा मानव जाति की उन्नति हो सकती है। बल्कि उलटे, यह तो हमें पीछे हटाने वाली शक्ति है जिससे घृणा और क्रोध उत्पन्न होकर मनुष्य एक दूसरे से लड़ने-भिड़ने लगते हैं और सहानुभूति शून्य हो जाते हैं। हम सोचते हैं कि जो कुछ हमारे पास है अथवा जो कुछ हम करते हैं, वही संसार में सर्वश्रेष्ठ है और जो कुछ हम नहीं करते अथवा जो कुछ हमारे पास नहीं है, वह एक कौड़ी मूल्य का भी

नहीं। × × × तुम्हें अपने आपको संसार के बारे में चिन्तित बना लेने की कोई आवश्यकता नहीं तुम्हारी सहायता के बिना भी यह चलता ही रहेगा। जब तुम दुराग्रह और मतान्धता से परे हो जाओगे, तभी तुम अच्छी तरह कार्य कर सकोगे। जो ठण्डे मस्तिष्क वाला और शान्त है, जो उत्तम ढग से विचार करके कार्य करता है, जिसके स्नायु सहज ही उत्तेजित नहीं हो उठते तथा जो अत्यन्त प्रेम और सहानुभूति से सम्पन्न है, केवल वही व्यक्ति संसार में महान् कार्य कर सकता है और इस तरह उससे अपना भी कल्याण कर सकता है। दुराग्रही व्यक्ति मूर्ख और सहानुभूति शून्य होता है। वह न तो कभी संसार को सीधा कर सकता है और न स्वयं ही शुद्ध एवं पूर्ण हो सकता है।'

ईर्ष्या-द्वेष का विष

ईर्ष्या-द्वेष कर्मयोग के साधक के लिए बहुत घातक हैं। जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार सभी भावावेगों में सर्वाधिक घृणित और समाज-विरोधी भाव द्वेष है। शैरिडन का मत है कि मानव हृदय में कोई भी भाव इतनी मजबूती से जमा हुआ नहीं है जितना द्वेष या डाह। ईर्ष्या का जन्म सहानुभूति के अभाव में होता है। सहानुभूतिशून्य व्यक्ति केवल आकृति से मनुष्य होता है, वास्तव में तो वह निर्जीव है—

जोशे हमदर्दी नहीं जिसमें वह इन्सान नहीं।
जाहिरा सूरते आदम है मगर जान नहीं॥

ईर्ष्यालु किसी के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकारों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कहते थे—'तुम्हारी निन्दा वही करेगा जिसकी तुमने भलाई की है।' ईर्ष्या असन्तोष पैदा करती है। ईर्ष्यालु को पड़ोसी की मुर्गी राजहंस-जैसी दिखाई देती है। वह दूसरे का वैभव देखकर अपना आनन्द खो बैठता है। उसका एक मात्र उद्यम दूसरों को हानि पहुंचाना होता है। संसार में ५० प्रतिशत

लोग केवल ईर्ष्या के कारण दुःखी हैं। काल्टन के अनुसार हजार में एक व्यक्ति ही ऐसा होगा जो हमारी विपत्ति पर सच्चे मन से तरस खाये, शेष सभी सच्चे जी से हमारी सफलता से घृणा करेंगे। हीरोडोटस कहा करता था कि तरस खाये जाने से डाह किया जाना अच्छा है। डाह के लिए कारण जुटाने का दोष सदैव उन व्यक्तियों का है जो सफलता प्राप्त करते हैं। ईर्ष्या ऐसी मानसिक व्यथा है जो सफल व्यक्ति अपने पड़ोसियों को पहुंचाते हैं। समूह की आदत है कि वह सुप्रसिद्ध व्यक्तियों पर भौंके, जिस प्रकार छोटे कुत्ते अपरिचितों पर भौंका करते हैं।

ईर्ष्यालु परनिन्दापरायण होता है। वह निन्दा करके दूसरों को गिराकर उनके गौरवपूर्ण स्थान पर अधिकार करना चाहता है। ईर्ष्या और आलस्य के योग से अधोगता उत्पन्न होती है। दिनकर जी कहते हैं कि जला-भुना आदमी जहर की एक चलती-फिरती गठरी के समान है जो हर जगह वायु को दूषित करती फिरती है। उसकी हँसी मनुष्य की नहीं, राक्षस की हँसी होती है। नीत्शे कहते थे कि मनुष्य में जो गुण महान समझे जाते हैं उन्हीं के चलते लोग उससे जलते भी हैं। ईर्ष्यालु के साथ कितनी ही उदारता बरती जाये, बदले में बुराई ही मिलती है। ईर्ष्यालु दूसरे व्यक्ति के चुप रहने पर और भी भड़कता है। आस्कर वाइल्ड ने परामर्श दिया है—अपने शत्रुओं को सदा क्षमा करते रहो क्योंकि उन्हें इससे अधिक चिढ़ाने वाली बात दूसरी नहीं।

घृणा का पागलपन

मानस में घृणा के भाव एकत्रित होते ही तन में उत्तेजना आ जाती है। घृणा की तीव्रता क्रोध को जन्म देती है, क्रोध हिंसा पर उतारू हो जाता है। जिस हृदय में घृणा का प्रवेश सुगमतापूर्वक हो सकता है, वह सदा अशान्त, रोगी और विकारवान् रहता है। घृणा करने वाले को एक क्षण के लिए भी सुख-चैन प्राप्त नहीं होते। ऐसा

नहीं हो सकता कि घृणा को कुछ घण्टों के लिए आमन्त्रित कर लिया जाय और जब इच्छा हो तब निकाल फेंका जाय। जिस हृदय में घृणा का बसेरा होता है वहां से उल्लास पलायन कर जाता है। अहिंसा और घृणा में परस्पर वैर है।

अप्रिय संवेगों का शरीर और मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। क्रोध के कारण पाचन-क्रिया रुक जाती है. अन्तडियाँ सिकुड़ जाती हैं, हृदय की गति तीव्र होकर ८० से १८० तक हो जाती है, रक्तचाप जो साधारणतया १२० रहता है, २३० तक हो जाता है और कभी-कभी मस्तिष्क की रक्त कोशिकाएँ फट जाती हैं। कारोनरी आर्टरी और भी छोटी हो जाती है जिसके कारण कभी-कभी तो मृत्यु तक हो जाती है। इस मत का प्रतिपादन डा० एल० पी० वर्मा ने किया है।

विषाद में भय भी मिला रहता है। कर्मयोगी न तो जन्मपत्र देखता है और न शकुन-अशकुन का विचार करता है—

सूर न पूछै टीपणी, सुगण न देखै सूर।
मरणां ने मंगल गिणै, समर चढ़ै जद नूर॥

वह शान्त रहता है। उत्तेजित व्यक्ति एक पागल हाथी के समान है। वह अपनी चेष्टाओं से आसपास के वातावरण को विषाक्त कर देता है। उत्तेजना के क्षणों में उसकी अक्ल को अजीर्ण हो जाता है। वह उसी तरह बके जाता है जैसे एक बिना मुँह बँधे फुटबाल के ब्लैडर से हवा निकलती रहती है। बात-बात में उत्तेजित होने वाला व्यक्ति प्रत्येक के द्वारा दुत्कारा ही जाता है। उत्तेजना काल में उत्तेजित व्यक्ति को किसी भी प्रकार की समझ नहीं रहती। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतः कर्मयोगी उत्तेजना को अपने समीप फटकने नहीं देता। कर्मयोगी का निर्णय प्रतिक्रियाजन्य नहीं होता। वह इसमें विश्वास करता है कि दुश्मन का लोहा चाहे जितना गर्म हो, किन्तु अपना हथौड़ा सदा ठण्डा रहना चाहिए।

कठिनाइयाँ वरदान हैं

कठिनाइयाँ वरदान हैं। उनसे आत्मविश्वास उत्पन्न करने का सुअवसर हाथ आता है। एक मनोविद् ने लिखा है कि जब भी आपकी सर्जनात्मक शक्ति कार्यरत होती है, उसमें कठिनाइयों पर विजय पाने की बात मनुष्य को अकथनीय आनन्द देती है। जिस कार्य में कठिनाइयाँ नहीं, वह नीरस हो जाता है। कठिनाइयाँ तो ऐसी चक्की हो सकती है जो विश्वास, आश और निश्चय को पीस डालती हैं, या फिर ऐसा सीढ़ियाँ बन जाती हैं जिन पर पैर रखकर हम नवीन जीवन और साहसिक कार्य में सिद्धि लाभ करते हैं। कर्मयोगी जानता है कि लोग योग्यता की कमी या गुण के अभाव के कारण कर्म, निरन्तर कर्म न करने के कारण अधिकतर असफल होते हैं। कर्मयोगी हर तरह की कठिनाइयों से निकल कर अपने कार्य को पूर्णता तक ले जाकर ही सन्तुष्ट होता है। इससे उसकी दृढ़ता और रचनात्मक क्षमता का पता चलता है।

कर्मयोगी कठिन कार्य को पहले और शीघ्र निपटाता है क्योंकि कठिन काम से जितना जी चुराया जायेगा उतना ही कठिनाई और प्रतीत होगी। कर्मयोगी कर्म का प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन करता है उसे टालता नहीं। भावात्मक रूप से अपरिपक्व व्यक्ति ही कठिनाइयों का रोना रोते हैं, कर्मयोगी अदम्य उत्साह और सत्सङ्कल्प द्वारा लक्ष्य को पाकर ही विश्राम करता है। कर्मयोगी जानता है कि जो व्यक्ति कर्म और उसके लक्ष्य में तल्लीन होकर अपनापन भूल जाते हैं, वे ही सफलता का वरण करते हैं।

आगे बढ़ने का आह्वान

कर्मयोग आज के युग की आवश्यकता है। कर्मयोगी कठिनाइयों से घबराता नहीं, उनसे संघर्ष करता है। कवि कर्मयोग की राह के पथिक का आह्वान करता है—

है जीवन रहा पुकार हार मत मानो !
संघर्ष करो तुम पथ की विपदाओं से।
संघर्ष करो तुम दुस्तर बाधाओं से।
कर्मों से अवनी अम्बर तक ले जाओ।
नभ भू पर लाओ पौरुष की बाहों से।
ऐसा तो कुछ भी नहीं असम्भव जो हो।
केवल तुम निज में निहित शक्ति पहिचानो ॥
यह हार-जीत तो बस मन की भाषा है।
है हार निराशा और विजय आशा है।
म्रियमाण पार्थ जग गीता गूँज रही है।
बस पांचजन्य अन्तर की अभिलाषा है।
है कर्मयोग सन्देश आज के युग का।
कर्त्तव्य यहाँ का यही कि धनु सन्धानों ॥

राही ! चाहे सामने तूफान हो या अचल हिमवान् तुम न रुकना न झुकना क्योंकि गतिशीलता का अर्थ है जय और गतिहीनता का आशय है पराभव—

सामने तूफान यदि आये, न रुक तू।
पन्थ पर हिमगिरि अड़े, फिर भी न झुक तू।
क्योंकि रुकना और झुक जाना पराजय।
धन्य वह, संघर्ष में जो अडिग निर्भय।
मनुजता की परख है तपकर चमकना।
शूल-पथ पद फूल बन करके निकलना !

बढ़े चलो। शक्तिहीन को लक्ष्मी नहीं मिलती, थककर बैठ जाने वाले पथिक को लक्ष्य नहीं मिलता। जो सतत श्रम करता है, ईश्वर उसका सहचर बनता है। बढ़े चलो—

शक्तिहीन को हो पाती है लक्ष्मी प्राप्त नहीं।
थककर बैठे हुए पथिक को मिलता लक्ष्य नहीं ॥

सतत परिश्रम करने वाले का सहचर ईश्वर !
चले चलो बस चलो निरन्तर जीवन के पथ पर !!

बढ़े चलो। अभी से चरण न रोको। अभी जगत् में रोग और शोक का मेला लगा हुआ है—

अभी दूर हो सका कहाँ है
इस जगती से शोक ?
अभी कहाँ फैला सर्वोदय
का पवित्र आलोक ?
चिरन्तन ज्योतिर्ज्ञान-किरण ?
अभी से रोको नहीं चरण।
अगति नाश है प्रगति चेतना
और कर्म उल्लास
हम अक्षर बनकर लिखते हैं
मानव का इतिहास
यहाँ पर यति का नाम मरण।
अभी से रोको नहीं चरण।

गति में ही प्रकाश है, गति में ही बल है। रुकना मौत है, गति है जीवन—

गति में ही होती है ज्योति विमल।
गति में होता है अनुपम बल।
है मरण अगति का एक नाम,
जीवन शाश्वत गति का है फल।।

सुकुमार पथिक ! क्रान्ति का तूफान लेकर निकल पड़। हथेली पर प्राण और प्राणों में आग लेकर बढ़ चल—

क्रान्ति का तूफान लेकर चल निकल सुकुमार बागी !
हाथ में ले प्राण, प्राणों में भरे अङ्गार बागी !!

साधना के पन्थ पर यदि प्राण भी चले गये, तो भी, ऐ राही ! तुम अमर हो जाओगे—

दीप होते हैं कि जो बुझते हिलोरों से,
तुम लपट हो और फैलोगे झकोरों से।
ये तुम्हारे क्रान्ति-डमरू के गमकते स्वर,
भस्म कर देंगे तमिस्रा गूँज कर घर-घर ॥

तुम्हारे लिए भय कहीं नहीं। अभी तुम्हें अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है अन्यथा ऐसा कौन-सा स्थल है जहाँ तुम्हारे पग न पहुंच सकें ? जब समस्त संसार अन्धकार के अंक में छिपा पड़ा हो, तूफान हाहाकार मचा रहे हों और सब जगह विध्वंस और विप्लव का भीषण दृश्य उपस्थित हो रहा हो तब भी ऐ पथिक ! तुम्हारे चरण युग की छाती पर अपने पैरों के निशान छोड़ें—

तुम महावीर, तुमको अपने बल की भी है कुछ थाह नहीं।
ऐसा स्थल कहाँ जहाँ तुमको ले जाने को है राह नहीं ॥
ये व्योम-विचुम्बी अचल शिखर चरणों से होते क्षत-विक्षत।
मानव,तुम सद् विभु की रचना, तुम हो चिन्मय,तुम हो अक्षत ॥
शूलों, अङ्गारों का पथ चल, चिर विजय-वधूटी सखे वरो।
तुम अभय रहो, कुछ भय न करो ॥
आँखों की भीषण ज्वाला से गल दूर गिरें जग के बन्धन।
कर सुख की वृष्टि डुबा दो यह पीड़ित जग का आकुल क्रन्दन ॥
फिर घहर-घहर कर आज गिरें सारी विभेद की दीवारें।
पनपे मानवता की खेती, पा नव जीवन की बौछारें ॥
जग के रीते उर दीपक में अपने हाथों नव स्नेह भरो ॥
जब छिपे हुए होवें काले बादल दल से शशि औ तारे।
डूबे काली स्याही में हों तट और ज्ञात पथ भी सारे ॥
जब सिहर-सिहर उठती होवे भय से संसृति सारी क्षण-क्षण।

झञ्झा ताण्डव करती होवे, उठती होंवे लहरें भीषण ।।
निज अन्त्र-जाल का यान बना तुम विपताओं का सिंधु तरो ।।

जब तक तेरे हाथों में विश्वास और लगन की सुदृढ़ पतवार है तब तक ऐ मांझी, तुझे आँधी और मँझधार से क्या भय ?

जब तक है विश्वास लगन दृढ़ क्षमता की पतवार ।
माँझी भय क्या तुझे ? भले हो आँधी या मँझधार ।।

मेरे राजहंस ! भय की कोई बात नहीं । केवल मोह-बन्धन विच्छिन्न करने होंगे । आशा न दिखायी दे तो भी क्या ? वह तो झूठी छलना है । विश्व को अपनी व्यथा बताने के लिए तू लच्छेदार भाषा नहीं गढ़ पाया तो भी निराशा की कोई बात नहीं—

ओ रे भय नाइ, स्नेह-मोह बन्धन,
ओ रे आशा नाइ, आशा शुधु मिले छलना ।
ओ रे भाषा नाइ, नाइ वृथा वसे क्रुन्दन,
ओ रे गृह नाइ, नाइ फूल शेज स्वन्न ।
उषा दिशाहारा, निविड़ तिमिर आँका
ओ रे विहङ्ग, ओरे विहङ्ग मोर,
एखनि अन्ध, बन्ध केरोना पाखा ।

तेरे पास रोदन-क्रन्दन के लिए समय ही कहाँ है ? कहाँ है तेरे पास पुष्प-शय्या-सज्जित घर । तेरे पास सिर्फ पंख हैं जो तेरी निधि हैं । इन्हें विराम न देना । ऊषा की तरह तू भी भटक न जाना । ओ विहङ्ग, अभी बड़ा अन्धेरा है ।

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बि[redacted]
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

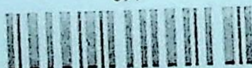
* कर्मयोग समाप्त *

चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी

साहित्य

१.	हृदय रोग चिकित्सा	६/५०
२.	ब्लैडप्रेशर चिकित्सा	३)२५
३.	पोलियो चिकित्सा	५)
४.	कब्ज चिकित्सा	४)२५
५.	स्वप्नदोष चिकित्सा	२)४०
६.	सरल घरेलू चिकित्सा	४)५०
७.	यज्ञ से रोग निवारण	५)
८.	प्राथमिक चिकित्सा	४)५०
९.	मूत्र चिकित्सा	२)७५
१०.	विष चिकित्सा	२)५०
११.	सूर्य चिकित्सा	२)७५
१२.	मोतीझरा (टाइफाइड) चिकित्सा	३)
१३.	सर दर्द चिकित्सा	२)५०
१४.	सरल वर्थ कन्ट्रोल	२)४०
१५.	गर्भ, प्रसव और नवजात शिशु	५)७५
१६.	भोजन से स्वास्थ्य	४)५०
१७.	केश संरक्षण	३)५०
१८.	टेलीपेथी और स्वास्थ्य	४)५०
१९.	सरल प्राकृतिक चिकित्सा विधान	५)
२०.	सौ वर्ष तक स्वस्थ रहें	३)
२१.	मोटापा कैसे दूर हो ?	२)५०
२२.	कद कैसे बढ़ायें	२)५[illegible]
२३.	ब्रह्मचर्य की प्रचण्ड शक्ति	[illegible]
२४.	कच्चा खायें स्वस्थ रहें	२)५०

प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर)
बरेली-२४३००१ (उ०प्र०)


097
185401

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्म-ग्रन्थ

१—ऋग्वेद ४ खण्ड	...	३६)
२—अथर्व वेद २ खण्ड	...	१८)
३—यजुर्वेद	...	६)
४—सामवेद	...	८)
५—वेद महाविज्ञान	...	१२)
६—शतपथ ब्राह्मण	...	११)
७—१०८ उपनिषद् ३ खण्ड	...	३०)
८—उपनिषद् रहस्य	...	६)५०
९—वृहदारण्यकोपनिषद	...	४)
१०—छान्दोग्योपनिषद्	...	४)
११—वैशेषिक दर्शन	...	५)७५
१२—न्याय दर्शन	...	५)७५
१३—सांख्य दर्शन	...	५)७५
१४—योग दर्शन	...	५)७५
१५—वेदान्त दर्शन	...	५)७५
१६—मीमांसा दर्शन	...	७)५०
१७—२० स्मृतियां २ खण्ड	...	३०)
१८—मनुस्मृति	...	६)७५
१९—योग वासिष्ठ २ खण्ड	...	२४)
२०—कौटिल्य अर्थशास्त्र	...	१२)
२१—ब्रह्म सूत्र	...	१०)
२२—गृह्य सूत्र संग्रह	...	१०)
२३—पञ्चदशी	...	१२)७५
२४—विचार सागर	...	११)
२५—विचार चंद्रोदय	...	२)
२६—पञ्चीकरण	...	३)५०
२७—उपदेश साहस्री	...	५)७५
२८—वृत्ति प्रभाकर	...	७)५०
२९—सौन्दर्य लहरी	...	४)७५

प्रकाशकः-संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)